रामानुजाचार्य
विशिष्टाद्वैतिक

भक्ति-दर्शन

लेखक :

कैप्टेन डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण', एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग, महाराजा कॉलेज, जयपुर

प्रकाशक :
कृष्णा ब्रदर्स,
कचहरी रोड, अजमेर

प्रकाशक :
कृष्णा ब्रदर्स,
कचहरी रोड, अजमेर

मूल्य ६॥)

मुद्रक :
अर्जुनसिंह बी० ए०
राजस्थान आर्ट प्रिंटर्स, अजमेर

दो शब्द

लेखक ने भक्ति-दर्शन का अध्ययन करते समय रामानुजाचार्य के भक्ति-दर्शन के सम्बन्ध में बहुत-सी सामग्री सङ्कलित की थी। यामुनाचार्य आदि के उद्धरणों के साथ सामग्री इतनी विपुल हो गई कि लेखक 'विशिष्टाद्वैत' पर लिखने को बाध्य हो गया। 'विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन' लिखते-लिखते लेखक 'भक्ति के विकास' और 'हिन्दी-भक्ति-धारा' पर लिखने के लोभ को भी दबा न सका, किन्तु विषयान्तर होने के भय से इनको परिशिष्ट में ही रखा गया। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के पाँच वर्ष के श्रम का फल है। यदि विद्वानों की रुचि की इससे तनिक भी तृप्ति हो सकी तो लेखक अपने को कृतकार्य समझेगा।

—*लेखक*

अरुणावास, जयपुर
१ जौलाई, सन् १९५७

रामानुजाचार्य

और

उनका विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन

भूमिका

ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक महापुरुषों का चरित अभी तक अज्ञात के गर्भ में विलीन है। रामानुज भी उनमें से एक हैं। उनके जीवन के सम्बन्ध में जनश्रुति का आश्रय ही प्रधान रहा है। कहा जाता है कि उनका जन्म शक-संवत ९३६ (वि० सं० १०७३) में हुआ था। उनका बाल्यकाल कांजीवरम् में व्यतीत हुआ। वहीं वे स्वामी शंकराचार्य के प्रसिद्ध अनुयायी यादवप्रकाश के शिष्य हुए। यादवप्रकाश शंकर के अद्वैतवाद के बड़े समर्थक थे। उन दिनों तामिल देश में वैष्णव धर्म का डंका बज रहा था। उसका प्रभाव रामानुज पर भी पड़ा। अतएव उन्होंने अद्वैतवादी यादवप्रकाश को छोड़कर यामुन मुनि को अपना गुरु स्वीकार किया। कालान्तर से वे उन्हीं यामुनाचार्य की गद्दी के उत्तराधिकारी बने और त्रिचनापली के पास श्रीरंगम् में निवास करने लगे। उस समय चोलवंशीय राजाओं का बोलबाला था। उस वंश के राजा शंकर के अद्वैत मत के अनुयायी थे। इसी वंश में एक प्रसिद्ध राजा अधिराजेन्द्र हुआ (जिसकी सं० ११३१ वि० में हत्या करदी गई)। मतभेद के कारण उससे रामानुज की अनबन होगई। राजेन्द्र कुलोत्तुंग उसका उत्तराधिकारी बना, किन्तु रामानुज की उससे भी न बनी। इस कारण वे सं० ११५३ वि० में श्रीरंगम् छोड़ कर होयसल वंशीय राजाओं के राज्य (आधुनिक मैसूर) में जा बसे। इस वंश का एक प्रतापी राजा वित्तिदेव या वित्तिंगदेव था जिसे इतिहास विष्णुवर्धन के नाम से जानता है। वह

तीस वर्ष राज्य करके सं० ११९८ वि० में स्वर्गगामी हुआ। वह पहले जैनमत का अनुयायी था, किन्तु रामानुज के सम्पर्क में आकर वह वैष्णव होगया। उसी समय उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रख लिया था। उसने अनेक वैष्णव मन्दिर बनवाकर वैष्णव धर्म की श्री-वृद्धि में अनेक प्रकार से योग दिया। उसी के राज्य में रहकर सं० ११९४ वि० में एक-सौ इक्कीस वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की।

'प्रपन्नामृत' ग्रंथ के आधार पर रामानुज ने सं० ११४४ वि० में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति प्रतिष्ठित की। कहा जाता है कि उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें प्रमुख गद्यत्रय, वेदान्त-दीप, वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य हैं। ब्रह्मसूत्रों पर रामानुजाचार्यकृत भाष्य 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त उनके भक्ति-सिद्धान्तों के पोषक हैं। अतएव रामानुज का महत्व न केवल दार्शनिक के रूप में ही है, वरन् वे भक्ति के प्रमुख प्रवर्तकों में से भी एक हैं। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार उपनिषद् हैं। उनके अनुसार अन्तर्यामी ब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्ता है। वही भोक्ता, भोग्य और प्रवर्तक है। उससे बाहर कुछ भी नही है; परन्तु इस अद्वैतवाद में, इस एकत्व में अनेकत्व की मात्रा वर्तमान है। इस संसार की जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न श्रेणी तथा चेतना की हैं, तथा संसार में अचेतन पदार्थ भी विद्यमान हैं जिनका ब्रह्म से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शरीर का आत्मा से है। अतएव जीवात्माएँ तथा समस्त भौतिक पदार्थ उसी के अन्तर्गत हैं। उससे पृथक् उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसीलिए वे निराद्यन्त हैं। कल्पान्त में प्रलय के समय भौतिक पदार्थ सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहते हैं। उस समय उनमें वे गुण नहीं रहते जिनके कारण हमें उनका अनुभव हो सकता है। उस समय आत्माएँ शरीर से भिन्न हो जाती हैं और यद्यपि उनमें ज्ञान की शक्ति अन्तर्हित रहती है, पर वे उसे

प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होती हैं। इस अवस्था से पुनः ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म पदार्थ स्थूल रूप धारण करते हैं और आत्माएँ अपनी ज्ञानशक्ति को प्रत्यक्ष करने लगती हैं। वे अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करती हैं। प्रलय की अवस्था में ब्रह्म 'कारण-अवस्था' में रहता है, और सृष्टि के पुनः उदय होने पर वह 'कार्य-अवस्था' में हो जाता है।

ऊपर जिस अद्वैतवाद की ओर संकेत किया गया है, वह वेदान्त-दर्शन की ही एक शाखा है। ध्यान रहे कि वैदिक साहित्य की सारी दार्शनिक शिक्षाओं को वेदान्त नाम दिया गया है। वैदिक साहित्य के दार्शनिक ज्ञान का भंडार प्रायः उपनिषदों में मिलता है। वेदान्त उपनिषदों का ही निचोड़ है। महर्षि बादरायण ने ई० पू० तीसरी या चौथी शती में 'वेदान्त-सूत्र' नामक ग्रंथ में इस दर्शन की व्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की। ब्रह्म-सूत्र संक्षेप-शैली की रचना होने से अर्थ में अत्यन्त कूट हैं। इनका स्वतंत्र रूप से आशय समझना कठिन है। इनकी अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, किन्तु सूक्ष्मता और सन्देह के कारण उनमें मत-भेद है। अपने-अपने दृष्टि-कोण को लेकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इन पर भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे हैं जिनमें वेदान्त-मत की परंपरा का विकास हुआ है। मत-भेद से इसी वेदान्त की तीन शाखाएँ विकसित हुई––अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत। अद्वैत मत के प्रवर्तक शंकराचार्य थे। रामानुज ने उन्हीं के 'अद्वैत' के तीव्र आलोक से चकित लोक को अपने विशिष्टाद्वैत से भक्ति के मधुर रस का पान कराया।

हाँ तो, उपनिषदों के आधार पर जिस धर्मिक और दार्शनिक परंपरा का विस्तार हुआ वह सम्पूर्ण परंपरा वेदान्त के नाम से विख्यात है। इस प्रकार वेदान्त-परम्परा के विकास के तीन चरण हैं जो 'प्रस्थान-त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। "वेदों का अंग होने के कारण उपनिषदों को 'श्रुति-प्रस्थान' कहते हैं। यही वेदान्त का मौलिक रूप और प्रथम प्रस्थान है। वेदान्त का द्वितीय प्रस्थान 'श्रीमद्

भगवद्गीता' है जो 'स्मृति-प्रस्थान' कहलाती है। गीता भावुक जनों की भाँति मनीषियों के लिए पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं है। मनुष्य की बुद्धि भावना के लाक्षणिक समन्वय से तृप्त नहीं होती। वह तीव्र तर्क-संगति चाहती है। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रों में मानों गीता के अभाव की ही पूर्ति की है। इनमें वेदान्त-तत्त्वों की व्यवस्था तर्काधार पर होने के कारण, ये वेदान्त के 'तर्क-प्रस्थान' कहलाते हैं।"

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि शंकर और रामानुज वेदान्त-परंपरा के दो प्रतिनिधि हैं, किन्तु उनके सिद्धान्तों में मौलिक भेद है जिसका स्पष्टीकरण दोनों की ब्रह्मसूत्रीय व्याख्या से हो जाता है। विद्वानों का मत है कि शंकरकृत वेदान्त-व्याख्या उपनिषदों की प्रधान विचारधारा के अधिक अनुकूल है। रामानुज ने अपनी वेदान्त-विषयक व्याख्या में कुछ अर्वाचीन उपनिषद्, पुराण, पाञ्चरात्र आदि का आश्रय भी लिया है और कुछ उपनिषदों के सगुण-समर्थक अंशों के आधार पर सगुण परमेश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर उन्होंने जीवन के व्यक्तिगत अस्तित्व और जगत् की सत्ता की सिद्धि करने का प्रयत्न किया है। इन कारणों से रामानुजीय मत (विशिष्टाद्वैतवाद) मूल वेदान्त से कुछ भिन्न होगया है।

"रामानुज के अनुसार सत्य का केवल एक ही दृष्टिकोण है और ज्ञान का समस्त विषय जात सत्य है। विषय और विषयी का भेद ज्ञान का एक मौलिक और नित्य भेद है, अतः किसी भी अवस्था में इस भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता। यह भेद केवल व्यावहारिक ही नहीं, वरन् पारमार्थिक भी है। जिस प्रकार विषय और विषयी का भेद नित्य है, उसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद भी सनातन है। अस्तु, रामानुज के अनुसार ब्रह्म के साथ-साथ जीव और जगत् भी चरम सत्य है। जीव और जगत् माया की व्यावहारिक सृष्टि नहीं, वरन् नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं, किन्तु जीव और जगत् सत्य और सनातन होते हुए भी परमेश्वर के अधीन हैं। वे स्वतन्त्र

नहीं हैं। परमेश्वर अंगी है और जीव और जगत् उसके अंग हैं। अस्तु, एक परब्रह्म परमेश्वर ही पूर्ण स्वतंत्र और परम सत्ता है। अतएव रामानुज का मत भी इस दृष्टि से अद्वैतवाद ही है किन्तु रामानुज का परब्रह्म शंकराचार्य के ब्रह्म की भांति निर्गुण, निर्विशेष चिन्मात्र नहीं है, वरन् वह सविशेष और सगुण परमेश्वर है। इसी विशिष्टता के कारण यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

यह जीव और जगत् से विशिष्ट परमेश्वर अखिल सत्ता का अन्तर्यामी है। वह विश्व की आत्मा है। जीव और जगत् उसका शरीर हैं। जिस प्रकार देह आत्मा के अधीन है, उसी प्रकार जीव और जगत् भी परमेश्वर के अधीन हैं। जिस प्रकार आत्मा देह का अन्तर्यामी है, उसी प्रकार परमेश्वर भी जीव और जगत् का अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर सगुण और उपास्य है, निर्गुण और निर्विशेष नहीं। इस सगुण परमेश्वर की प्राप्ति ही जीवन का परम साध्य है। यही परमार्थ अथवा मोक्ष है।

रामानुज के अनुसार जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य मोक्ष नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य असंभव और अकल्पनीय है। जीव परमेश्वर का अंश है और उसके अधीन तथा उससे अविभक्त होते हुए भी उसकी एक विविक्त सत्ता है। मोक्ष की अवस्था में भी जीव का विविक्त अस्तित्व रहता है, यद्यपि उसका ज्ञान-परिच्छेद विलीन हो जाता है। जीव की सत्ता की भाँति ही जगत् की सत्ता भी मोक्ष-काल में विलय नहीं होती। तादात्म्य-रूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञानद्वारा नहीं, भक्तिद्वारा साध्य है। अतएव रामानुज भक्ति को मोक्ष का परम साधन मानते हैं। ज्ञान और कर्म सहकारी साधनों के रूप में मोक्ष में सहायक हो सकते हैं।

रामानुज के मत में माया मान्य नहीं है। रामानुज और उनके अनुयायियों ने शंकराचार्य के मायावाद का कठोर खण्डन किया है।

विशिष्टाद्वैत मत में जगत् वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है। ईश्वर माया से उपहित अपर ब्रह्म नहीं, वरन् साक्षात् पर ब्रह्म है। यह परमेश्वर ही पारमार्थिक सत्य है। रामानुज को पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का भेद मान्य नहीं है। सत्य की एक ही कोटि और उसका एक ही दृष्टिकोण है। रामानुज का परमेश्वर अद्वैत के निर्गुण ब्रह्म की भाँति अवैयक्तिक परमतत्त्व मात्र नहीं है, वरन् वह दिव्य व्यक्तित्ववान् परमपुरुष है। दिव्य वैकुण्ठ लोक उसका मुख्य निवास है। यद्यपि अन्तर्यामीरूप से वह प्रत्येक जीव के हृदय में वर्तमान है। इस करुणामय की उपासना से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक की प्राप्ति कर सकता है और वैकुण्ठ के अनन्त आनन्द का भागी बन सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में ईश्वर के लोक की प्राप्ति ही मोक्ष है और भक्ति उसका परम साधन है।

रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म दो विविक्त सत्ताएँ हैं। विविक्त होने के साथ-साथ जीव और ब्रह्म दोनों ही चरम सत्य हैं, यद्यपि समान रूप से स्वतंत्र नही हैं। चैतन्य जीव और ब्रह्म दोनों का समान धर्म है, किन्तु दोनों के चैतन्य की सीमा में भेद है। ब्रह्म अथवा ईश्वर का चैतन्य असीम है, जीव का चैतन्य सीमित है। जीव चेतन होते हुए भी अणु है। जीव का सीमित चैतन्य और परिच्छिन्न व्यक्तित्व अविद्या-जनित भ्रान्ति नहीं, वरन् एक वास्तविक तथ्य है। जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य नही है, वरन् वह ईश्वर का एक अंश है। जीव ईश्वर के अनन्त आलोक की एक रश्मिमात्र है। वह परमेश्वर की चैतन्य ज्वाला का एक प्रदीप्त स्फुलिंग मात्र है।

जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर अन्तर्यामी है और वही जीव के कर्मों का प्रेरक तथा वास्तविक कर्ता है। अतएव अहंकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के बन्धन से मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, ज्ञान से नहीं।

रामानुज ब्रह्म के साथ जीव के तादात्म्य ही को मोक्ष नहीं मानते।

वे जीव को ब्रह्म (ईश्वर) का अंश मानते हैं। जीव की स्वतंत्र सत्ता तथा पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह ब्रह्म अथवा परमेश्वर से भिन्न एक विविक्त तत्त्व है। ब्रह्मलोक अथवा परमेश्वर की प्राप्ति जीव का परम लक्ष्य है और यही उसका मोक्ष है। आत्मानुभवरूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञानद्वारा साध्य नहीं है।

रामानुज के प्रमुख सिद्धान्त यही है जिनके अधार पर उन्होंने अपने वैष्णव मत के मंदिर को खड़ा किया है। वे ब्रह्म का आविर्भाव पाँच रूपों में मानते हैं। पहला रूप 'पर' है जिसमें वह वैकुंठ में शेष नाग पर विराजता है। वह लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ एवं शंखचक्रादि से विभूषित होता है। उसके दर्शन केवल मुक्त आत्माओं को होते हैं। दूसरा रूप 'व्यूह' है जिसे वह (ब्रह्म) सृष्टि की उत्पत्ति आदि के लिए धारण करता है। यह रूप चार प्रकार का होता है—अर्थात् ज्ञान और बल का प्रदर्शक 'संकर्षण रूप', ऐश्वर्य और वीर्य का प्रदर्शक 'प्रद्युम्न रूप', शक्ति और तेजस् का प्रदर्शक 'अनिरुद्ध रूप' और ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेजस् इन छहों गुणों का प्रदर्शक 'वासुदेव रूप'। तीसरा मुख्य रूप वह है जिसमें वह पृथ्वी पर अवतार लेता है। चौथा मुख्य रूप अन्तर्यामी का है जिसमें वह मनुष्यों के हृदयों में स्थित है, योगियों को दर्शन देता है, तथा महामात्रा में आत्माओं का साथी है। पाँचवें मुख्य रूप में वह मूर्तियों और प्रतिमाओं में स्थित है। रामानुज के अनुसार मनुष्य की आत्माएँ ईश्वर का अंश है जो उसीसे प्रेरित और शासित होती है।

आत्माओं की तीन श्रेणियाँ हैं—नित्य, मुक्त और बद्ध। बद्ध आत्माओं में से कुछ तो सांसारिक वैभव के पीछे पड़ी हैं, कुछ स्वर्गीय सुख की खोज में हैं और कुछ मुक्त होना चाहती हैं। इस अन्तिम श्रेणी की आत्माओं के लिए अपना मनोरथ सिद्ध करने के दो उपाय हैं—एक तो कर्म-योग और तदनन्तर ज्ञान-योग द्वारा भक्ति की प्राप्ति, और दूसरा प्रपत्तिमार्ग। कर्म-योग में बिना किसी प्रकार

की कामना अर्थात् बिना फल प्राप्ति की इच्छा किये अपने-अपने धर्म या कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है। इसके मुख्य कार्य देव-पूजा, तपश्चर्या, यज्ञ, दान, और तीर्थ-यात्रा कहे गये हैं। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य ज्ञान-योग का अधिकारी हो जाता है जिससे उसे अपने आपका ज्ञान हो जाता है और तब वह भक्ति प्राप्त कर सकता है।

रामानुज के अनुसार भक्ति परमानन्ददायिनी अनुरक्ति नहीं है, वरन् उसका तात्पर्य ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करना है। इसकी प्राप्ति में पवित्र भोजन, जितेन्द्रियता, पूजन, भजन, दान, दया, अहिंसा सत्य आदि सहायक होते है। परमेश्वर की प्राप्ति का साधन उसकी प्रीतिपूर्वक भक्ति तथा उपासना है, किन्तु ज्ञान इस भक्ति का सहकारी हो सकता है। परमेश्वर के दिव्य गुणों के ज्ञान से उसके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है। ज्ञानमूलक भक्ति दृढ़ होती है। इस मत में भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है। इसके अतिरिक्त प्रपत्ति और ईश्वरानुग्रह का भी इस मत में बड़ा स्थान है। श्रवण और निष्काम कर्म द्वारा सत्व-शुद्धि ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति की योग्यता का साधन है, किन्तु प्रपत्ति इस[illegible] [illegible] [illegible] है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। सब कुछ छोड़कर एक मात्र ईश्वर का आश्रय ग्रहण करना पूर्ण प्रपत्ति है।

प्रपत्ति के मुख्य अंग शरणागत-भाव, अविरोध, त्राण में विश्वास, ब्रह्म की दया पर भरोसा आदि हैं। प्रपत्ति से परमेश्वर का प्रसाद और उसकी भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति ही ईश्वर प्राप्ति का साधन है। उसी से मोक्ष लाभ होता है, किन्तु तादात्म्य नहीं। भक्त को सच्चिदानन्द परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान और आनन्द प्राप्त होजाता है, किन्तु उसकी शक्ति और सत्ता सीमित रहती है। जीव स्वरूप से अणु है। मोक्ष-काल में भी वह ज्ञान में अनन्त, किन्तु आकार में अणु रहता है। उसकी शक्ति का विकास होता है, किन्तु वह असीम नहीं होती। विश्व का सृजन और शासन परमेश्वर का एकाधिकार है। यह अधिकार जीव को मोक्ष में भी नहीं मिलता। यह मोक्ष जीवन-

काल में संभव नहीं, अतः रामानुज के मत में केवल विदेह-मुक्ति ही मान्य है।

रामानुज ने ईश्वर प्राप्ति के दो मार्ग—भक्ति और प्रपत्ति बतलाये हैं और यह भी बतलाया है कि ईश्वर-प्राप्ति जब एक मार्ग से न होसके तो दूसरे का अवलंब लेना चाहिए। इन दो सिद्धान्तों के कारण रामानुज के अनुयायियों में बड़ा मत-भेद उत्पन्न होगया था। कुछ लोग तो यह कहते थे कि प्रपत्तिमार्ग से ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर इसका अवलंब तभी लेना चाहिए जब जीव भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने में असमर्थ हो। दूसरे कुछ लोग कहते थे कि ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रपत्ति-मार्ग है। भक्तिमार्ग में भक्त के कृतिपरायण होने की आवश्यकता मानी गई है और प्रपत्ति-मार्ग में वह ईश्वर का शरणागत होकर अपने को उसकी इच्छा और दया पर छोड़ देता है। उदाहरण के लिए मर्कटन्याय का आश्रय लिया गया है। वानर-शिशु अपनी माँ के शरीर से चिपटा रहता है और वह उसे जहाँ चाहती है, लेजाती है तथा उसकी रक्षा करती है, फिरभी बच्चा अपनी माँ को पकड़े रहता है। यही अवस्था भक्तों की होती है। वे ईश्वर-शरणागत होते हैं, परन्तु स्वयं उनको भी मर्कटवत् उद्योगी रहना पड़ता है। प्रपत्तिमार्ग के अनुयायियों के संबंध में मार्जारन्याय का आश्रय लिया जाता है। मार्जारी अपने शिशु को मुख में दबा कर अपनी इच्छानुसार लिए फिरती है। शिशु मातृनिर्भर एवं निश्चिंत होता है। प्रपत्तिमार्गियों की अवस्था मार्जार-वत् होती है। वे अपने को ईश्वर की अनुकम्पा पर छोड़ देते हैं और उसी पर अवलंबित रहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि भक्ति-मार्ग प्रपत्तिमार्ग की अपेक्षा सरल नहीं है।

इस कारण इस संप्रदाय के लोगों में और भी अनेक भेद होगये थे। भक्तिमार्ग के अनुयायियों का आग्रह था कि परम मंत्र के अधिकारी केवल ब्राह्मण हैं, दूसरे वर्णवालों को 'ओउम्'-रहित मंत्र का ही उपदेश दिया जा सकता है। प्रपत्तिमार्गी इस सिद्धान्त के विरोधी थे। वे

सबसे सम व्यवहार करना और पाना चाहते थे। प्रतीत ऐसा होता है कि कदाचित् स्वयं रामानुज भी भक्तिमार्गियों के पक्ष में थे। इसी-लिए ब्राह्मणेतर लोगों के लिए उन्हें एक तीसरे मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था। इसका नाम उन्होंने आचार्याभिमानयोग' रक्खा था। इसका अनुयायी अपने आचार्य पर मुक्ति के लिए निर्भर रहता है और आचार्य स्वयं उसके लिए सब कृत्यों का प्रतिपालन करता है। इससे साफ दीखता है कि रामानुज के जीवन-काल में ही इस सम्प्रदाय पर वर्ण-बन्धन लग गये थे और धर्म-भाषा के संबंध में भी मत-भेद चल पड़ा था। अभिजातीय धर्म की भाषा संस्कृत ही को रखना चाहते थे जब कि इतर लोग धर्म की अभिव्यक्ति के लिए देश-भाषाओं को अधिक उपयुक्त मानते थे। इससे यह भी प्रकट होता है कि दक्षिण भारत में द्विजाद्विज का झगड़ा शताब्दियों पुराना है। इस झगड़े को शान्त करने में रामानुज असफल ही रहे, अतएव हिन्दुओं को भक्ति-सूत्र में बाँधकर वे उनकी एकता की प्रतिष्ठा भी न कर पाये, प्रत्युत उनके कारण भेद-परिखा कुछ और चौड़ी होगई। जो काम दक्षिणी भारत में रामानुज नहीं कर सके उसको उनके अनुयायियों ने उत्तरीय भारतवर्ष में सफलता से सम्पन्न किया। मानों भक्ति-द्वारा उत्तरीय भारत के हिन्दुओं की एकता का श्रेय अनुयायियों के ही भाग्य में था।

भक्तों के लिए रामानुज जी ने कुछ नियम बनाये थे कि वे शरीर पर शंख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करें, महामंत्र का जप करें, भक्तों की सेवा करें, एकादशी व्रत रक्खें, चरणामृत ग्रहण करें, देवमूर्ति पर तुलसी चढ़ावें और केवल भोग लगा कर ही भोजन करें। इस संबंध में कुछ लोगों का यह विचार है कि इन बातों को उन्होंने क्रिस्तानों से सीखा था, किन्तु इन बातों के यहाँ पहले से न होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। समानता इस बात का प्रमाण नहीं दे सकती। जो हो, यहाँ हम किसी विशेष विवाद में न पड़ कर यही कहना चाहते हैं कि रामानुज केवल नारायण के उपासक थे। राम

और कृष्ण में से किसी की पूजा की ओर उनकी न्यूनाधिक प्रवृत्ति नहीं थी। इसी नारायणोपासना से आगे चल कर उनकी शिष्य-परंपरा में राम-पूजा का उदय हुआ।

रामानुज के शिष्य देवाचार्य थे जिनके शिष्य हर्यानन्द और उनके राघवानन्द हुए। कबीर के संबंध से जिन रामानन्द का उल्लेख किया जाता है, वे इन्हीं राघवानन्द के शिष्य थे। इस शिष्य-परंपरा में रामानन्द ही परम प्रसिद्ध हुए, किन्तु रामानुज के मत के पूर्ण प्रतिपादक राघवानन्द ही थे। समस्त भारत की यात्रा के उपरान्त वे काशी में आ बसे थे और यहीं उन्होंने रामानन्द को अपना शिष्य बनाया था।

जयपुर,
(छात्रावास)
२५–११–५६

लेखक

अध्याय १

सत्कर्म के फल का नाम सुख और दुष्कर्म के फल का नाम दुःख है। जो उत्तम कर्म करता है उसे सुख और जो नीच कर्म करता है उसे दुःख अवश्य मिलता है। जिस प्रकार सत्कर्म न करने पर केवल चाहनेमात्र से सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार नीच कर्म करने पर केवल न चाहनेमात्र से दुःख भी नहीं मिटता। कारण-कार्य के नियम का यह पहिया अनादिकाल से बड़ी कठोरता के साथ घूमता चला आरहा है। बड़े-छोटे सभी इसके नीचे कुचलते चले जाते हैं। माता-पिता के मर जाने से यदि छोटा शिशु निःसहाय चिल्लाता है, तो रहे। उसकी करुण पुकार से वह कोमल नहीं होता और न किसी दीन-दुखिया विधवा के आँसुओं से उसकी गति ही मन्द पड़ती है। जब तक जीव माया-मण्डल में रहेगा दुःख-सुख अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा। हाँ, माया-मण्डल से निकल कर भगवत्सन्निधि में पहुँच जाने पर दुःख-सुख का खटका नहीं रहता, क्योंकि उस स्थिति में जन्म-मरण नहीं रहता। आवागमन का चक्र तो माया-मण्डल के भीतर ही चलता है।

सुख-दुःख का हेतु

उत्तमोत्तम कर्मों से प्राप्त किया हुआ स्वर्ग भी निरवधि नहीं होता, क्योंकि उत्तम कर्म स्वयं निरवधि नहीं होते। कारण का साव-धित्व कार्य में भी विद्यमान रहता है। पुण्य-फल भोग चुकने पर स्वर्ग को छोड़ना ही पड़ता है। फिर आवागमन में सुख-दुःख के चक्र के नीचे पिसना ही पड़ता है।

कर्म-बन्धन और उससे मुक्ति

अतएव स्वर्ग को भी सर्वोत्तम पद नहीं समझ लेना चाहिए। सर्वोत्तम पद वही है जिसे प्राप्त करके आवागमन निवृत्त हो जाए। वैकुण्ठ में आवागमन का भय नहीं है, इसीसे उसे सबसे ऊँचा और निर्भय पद कहा है:—

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्ते च राज्ञो भयम् ।
विद्यायां कलिभीस्तपे करणभी रूपाद्भयं योषिति ।
इष्टे शोकभयं रणे रिपु-भयं काये कृतान्ताद्भयम् ।
चेत्थं जन्म निरर्थकं क्षितितले विष्णोः पदं निर्भयम् ।।

अर्थात भोग में रोग का भय है, सुख में उसके नाश का भय है, धन में राजा का भय है, विद्या में विवाद का भय है, तप में उसके सधने का भय है, रण में शत्रु का भय है, तथा काया में काल का भय है। इस प्रकार पृथ्वी पर जन्म निरर्थक है। एक विष्णुपद ही निर्भय है। वहाँ कोई भय नहीं है, वह माया-मण्डल से ऊपर है। उसे मोक्ष या मुक्ति किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है:—

"यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ।"

अर्थात् जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता वह मेरा परम धाम है।

इस विवेचना से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जीव माया से मुक्त होकर भगवद्धाम जा पहुँचता है।

जीव, माया और भगवान् तीनों ही अनादि हैं। भला कोई बीच में ही कहाँ से आ पड़ता? इस विषय में महर्षि कपिल का वाक्य (कि "कुछ नहीं" में से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, कार्य अपने कारण में रहता है, स्थूल-सूक्ष्म का भेद रहे तो रहे, उससे कुछ हानि नहीं) प्रमाण है। ईश्वर, जीव और माया, ये तीनों ही 'हैं', 'थे' और 'रहेंगे'। इनका न आदि है, न अन्त है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया को स्पष्टतः 'अजा' कहा है, अर्थात् जिसका जन्म नहीं, जो अनादि है और जीव को 'अज' कहा गया है अर्थात् जीवों का भी जन्म नहीं, वे भी अनादि हैं। श्रुति-वाक्य इस प्रकार है:—

जीव, माया और भगवान्

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वी : प्रजा : सृजमानां सरूपा :।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य: ॥ श्वेता० ४. ५.

अर्थात् अपने रूप के समान ही बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करनेवाली एक लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्णा अजा को एक अज सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्तभोगा को त्याग देता है। अभिप्राय यह है कि रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण—ये तीन गुण माया के हैं; लाल, श्वेत और काला, ये तीन वर्ण क्रमश: इन तीन गुणों के हैं। इसलिये 'अजा' शब्द यहाँ माया का वाचक है। घोड़े से घोड़े, हाथी से हाथी, मनुष्य से मनुष्य अर्थात् समानरूप उत्पत्ति इस माया-मण्डल में सदा से होती आती है। कार्य में कारण का रूप किसी न किसी प्रकार से अवश्य आजाता है। इसलिए अजा (माया) को अपने रूप के समान बहुत प्रजा उत्पन्न करनेवाली कहा है। एक 'अज' इसको भोगता रहता है और दूसरा इस भुक्तभोगा का परित्याग कर देता है। यहाँ भोगी 'अज' जीव है और अभोगी परमात्मा।

जीव और माया दोनों ही अनादि हैं, दोनों ही परिणामी हैं।

परिणाम और परिणामी

परिणामी द्रव्य के परिणामगत होने पर ही उसे नाश-संज्ञा प्रदान की जाती है। जिसे नाश कहते हैं उससे किसी द्रव्य के सर्वथा अभाव होजाने का तात्पर्य नहीं है। कार्य अपनी कारण अवस्था की सदृशता पर चला जाय अथवा परिणामी का परिणाम होजाय तो इन अवस्थाओं के लिए 'नाश' शब्द का व्यवहार होता है। नित्य या सद्वस्तु का सर्वथा अभाव तो हो ही कैसे सकता है? गीता का वाक्य प्रमाण है:—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: "।

अर्थात् असत् का भाव नहीं होता है और अविनाशी सत् का अभाव नहीं होता।

जीव और माया दोनों परिणामी हैं, किन्तु जीव में केवल स्वभाव-परिणाम ही होता है, और माया में स्वभाव-परिणाम और स्वरूप-परिणाम, दोनों होते हैं। जीव में स्वरूप-परिणाम नहीं होता और ईश्वर में दोनों ही परिणाम नहीं होते। ईश्वर के यावद् व्यवहार स्वतंत्र एवं लीलामात्र हैं, कर्म-बन्धनमय नहीं हैं। जीव और माया, चित् और अचित्, की स्थिति स्वतंत्र नही है। उनमें सदैव ईश्वर का पारतन्त्र्य रहता है। अतएव तीनों का भेद स्पष्ट होने से ईश्वर, जीव और माया को वस्तुतः एक नही कहा जा सकता।

परिणाम के दो भेद

जल से बनी हुई हिम को बर्तन में आग पर रखने से थोड़ी देर में जल तक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आग में जलाने पर व्यक्ति भी देखते-देखते भस्म होजाता है; किन्तु इस स्थिति को जल अथवा जीव का 'सर्वथाभाव' नहीं कह सकते। बर्तन में अग्नि पर रक्खा हुआ हिम (द्रव्य) दृढ़ अवस्था से पहले द्रव अवस्था में (जलरूप में) परिणाम होगया और द्रव भी अग्नि-ताप से वाष्पाकार होगया। यह भाव ही है, अभाव नहीं। इसी प्रकार जिसे जीव कहते हैं वह अग्नि में जल ही नहीं सकता। गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं– "नैनं दहति पावकः"। जलने वाली वस्तु तो शरीर है। जीव तो शरीरी है। वह शरीर से भिन्न है। शरीर और शरीरी का अत्यन्त निकट सम्बन्ध होने से उनका अभेद केवल व्यवहार की भाषा में ही मान लिया जाता है, वास्तव में उनमें अभेद नहीं है। वस्तुतः शरीर भी जलता नहीं है, जलता हुआ केवल दिखाई पड़ता है। शरीर जिन तत्त्वों से बना हुआ है, वे उसके आग में पड़ने पर अपने-अपने भण्डार में जा मिलते हैं। अभाव उनमें से किसी का नहीं होता और शरीरी जीव अपने कर्मवश दूसरे शरीर में जा बसता है।

सद्वस्तु का अभाव नहीं होता

इस प्रपंच और परमात्मा का वही संबंध है जो शरीर और शरीरी का सम्बन्ध है। यह संबंध ही तो जीव और ईश्वर का अभेद दिखाने

वाली श्रुति तथा अन्यान्य वाक्यों की संगति बैठाता है। जैसे इस शरीर में जीव शरीरी है, वैसे ही जीव शरीर है और परमात्मा उसमें शरीरी है। उसी प्रकार चिदचिन्मय प्रपंच परमात्मा का शरीर है। सुबालोपनिषद् में यही बात इस प्रकार स्पष्ट की गई है:—

चिदचित् का ईश्वर से सम्बन्ध

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्माशरीरं य आत्मा-नमंतरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृतः"

अर्थात् जो परमात्मा पृथ्वी में रहता हुआ भी उससे पृथक् है, पृथिवी जिसको नहीं जानती है, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथिवी को भीतर से यमन करता है वह तेरी आत्मा का अन्तर्यामी है और मरणधर्म रहित है। जो आत्मा में रहता हुआ भी उससे पृथक् है, आत्मा जिसको नहीं जानता है, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा को भीतर से यमन करता है वह परमात्मा तेरी आत्मा का अन्तर्यामी और अमृत है।

भीतर से यमन करने वाले को अन्तर्यामी कहते हैं और परमात्मा आत्मा का भी आत्मा है। शरीर में जैसे जीव आत्मा है वैसे ही जीव का भी आत्मा परमात्मा है। 'परम्' शब्द से यह द्योतित होता है कि उससे परे और कोई नहीं है। यह नाम शरीर-शरीरी-भाव को लिये हुए है। इस रीति से मुख्य शरीरी परमात्मा ही ठहरता है। छान्दोग्योपनिषद् में भी यही कहा गया है—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा": अर्थात् भीतर प्रवेश किये हुए जनों पर जो शासन करता है वह सर्वात्मा है।

ईश्वर, जीव और माया, तीनों नित्य होते हुए भी, इन तीनों में मुख्य परमात्मा (ईश्वर) ही ठहरता है, क्योंकि यमन करना (अपने अधिकार में रखना और यथेच्छ चलाना) और शासन करना (उन

पर अपना अधिकार रखते हुए और उनको अपना परतंत्र बनाए हुए उन पर राज्य करना) उसी का काम ठहरता है; किन्तु परमात्मा का शासन राजा का सा नहीं होता। यदि परमात्मा का शासन ठीक वैसा ही होता जैसा कि जगत् में राजा का प्रजा के ऊपर, जिसमें राजा का स्वामित्व और प्रजा का दासत्व दीखता है, तो इसमें अभेद श्रुतियों का अर्थ छोड़ना पड़ता,क्योंकि संसार में राजा भिन्न शरीरधारी होता है और प्रजा भिन्न शरीरधारी होती है। प्रजा के भीतर राजा अन्तर्यामी नहीं होता। इससे राजा-प्रजा के सम्बन्ध में शरीर-शरीरी-भाव की संगति नहीं बैठती। राजा-प्रजा के सम्बन्ध में अभेद-व्यवहार की प्रतिष्ठा नही होती। अभेद-व्यवहार की योग्यता तो वहीं होगी जहाँ शरीर-शरीरी-भाव होगा। हाँ, उपनिषद्-वाक्यों में जो यह आया है कि 'वह आत्मा का अन्तर्यामी है, आत्मा उसको नहीं जानता है', इससे जीव और ईश्वर में वास्तविक भेद सिद्ध है। यदि भेद न हो, दोनों एक ही हों, तो "एक के भीतर एक है और परमात्मा को जीवात्मा नहीं जानता" यह अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता।

नियाम्यत्व (restrainableness, subduableness) धार्यत्व (bearableness) और शेषत्व (dependence)—ये शरीर के लक्षण हैं और नियामकत्व (restrainingness), धारकत्व (bearingness) और शेषित्व (Indeppondence)—ये लक्षण शरीरी के हैं। ये व्यवस्थाएँ अचेतन शरीर और जीव-शरीरी की परस्पर रहती हैं; ठीक इसी प्रकार प्रपंच-शरीर और परमात्मा-शरीरी की भी परस्पर यही व्यवस्थाएँ रहती हैं। परमात्मा का शरीर होने से जीवात्मा में भी शरीर के उक्त तीनों लक्षण सिद्ध होते हैं, किन्तु जीव में एक विशेषता रहती है वह यह कि जैसे अपना शरीर जड़ है वैसे ही परमात्मा का शरीर (जीव) जड़ नहीं है। यह ऐसा सम्बन्ध है कि इससे जीव और ईश्वर में अभेद दिखाने-वाले वाक्यों की संगति बैठ जाती है, नहीं तो वास्तविक अभेदता तो

हे ही नहीं। शरीरी प्रधान होने से विशेष्य कहलाता है और जीव एवं माया को अप्रधान होने से उसका विशेषण कहा जाता है।

वस्तुत. प्रपंचभिन्न अन्तर्यामी के भिन्न रहने पर भी वैसा भेद नहीं बनता जैसा लोक में स्वामी-सेवक का होता है। इस कारण ऐसा नहीं कहते कि तीनों की स्थिति अलग-अलग है, वरन् यही कहा जाता है कि तीनों का एक पुञ्ज है। वही सृष्टि का कारण है। जिस प्रकार कारण-अवस्था में तीनों हैं, उसी प्रकार सदा कार्य अवस्था में भी तीनों ही रहते हैं। कारण रूप में जो तीनों का एक पुंज है उसका नाम ब्रह्म है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने इसी तथ्य का उद्घाटन इन शब्दों में किया है:—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"–(श्वेता० उप० १·१२)। भोक्ता जीव है, भोग्य माया है और ईश्वर प्रेरिता है। इस त्रिविध पुंज को ब्रह्म कहा है।

जीव और ईश्वर के भेदाभेद का स्वरूप

इन तीनों का एक पुंज कहने से कदाचित् यह शंका उठ सकती है कि माया तो खैर जड़ है, परन्तु जीव और ईश्वर दोनों चेतन हैं और मिले हुए हैं तो दोनों को एक ही क्यों नहीं मान लिया जाय? इसके समाधान के लिए एक के परिणामी और दूसरे के अपरिणामी होने की व्यवस्था की विवेचना पहले ही की जाचुकी है। उपनिषद् में भी लिखा है—"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" (अपने आत्माको और प्रेरणा करनेवाले ईश्वर को पृथक् मान कर अनुसंधान करनेवाला अमृतत्व को प्राप्त होता है अर्थात् आवागमन से छूट जाता है)। यह छूटने का व्यवहार जीव के साथ है, क्योंकि माया तो स्वयं जड़ और बन्धनरूप है और परमात्मा बन्धन से परे है, अतः उसके विषय में छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, तीनों का पुंज एक ब्रह्म है। उसमें एक भीतर से यमन करनेवाला परमात्मा प्रधान है तथा शरीर-शरीरी-भाव में अभेद-व्यवहार होने के कारण तैत्तिरीयोपनिषद् में उसके संबंध में इस प्रकार कहा गया है:—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनु-

प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" अर्थात् प्रपंच की सर्जना करके वह परमात्मा उसी में अनुप्रविष्ट होगया। उसमें अनुप्रवेश करके वह सत्यस्वरूप परमात्मा स्वयं ही मूर्तामूर्त होगया। मूर्तामूर्त दोनों का प्रसार सृष्टि-रचना से हुआ तथा सृष्टि की स्थिति तक रहेगा। इसमें भगवदिच्छा ही मुख्य रहने से ऐसा कहा जाता है।

विशिष्टाद्वैतवाद क्या है ?

कोई मनुष्य कहीं जाता है तो कहा जाता है कि अमुक मनुष्य गया। यहाँ जानेवाला कौन है ? यदि कहा जाय कि गमन-व्यापार शरीर में दीखता है, शरीर ही गया तो क्या वह जीव को छोड़ गया ? और यदि कहा जाय कि जीव भी शरीर के साथ ही गया, तो क्या अन्तर्यामी पीछे रह गया ? किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता। इससे सिद्ध हुआ कि तीनों का पुंज ही गया। इस प्रकार शरीर-शरीरी-भाव में जो वाक्य-व्यवहार अभेद-मर्यादा के साथ बनता है, उसमें सुगमता रहती है। प्रलयकाल में जो स्वरूप रहता है वह कारण-रूप होने से 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट' कहलाता है। इसी प्रकार सृष्टि-काल में जो स्वरूप रहता है वह कार्य-रूप होने से 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट' कहलाता है। ये दोनों विशिष्ट स्वरूप हुए। इनमें अद्वैत होने (वास्तविक अभेद होने) से इस सिद्धान्त को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं।

भेद-अभेद

इस अभेद का सूचक ही "तत्त्वमसि" महावाक्य है जिसमें तीन शब्द हैं: एक 'तत्', दूसरा 'त्वम्' और तीसरा 'असि'। 'तत्' का अर्थ है 'वह' जिससे दूरवर्ती सूक्ष्म 'चिदचिद्विशिष्ट' का ग्रहण होता है। 'त्वम्' का अर्थ है 'तू', जिससे समक्ष विद्यमान 'चिदचिद्विशिष्ट' का ग्रहण होता है; और 'असि' का अर्थ है "है", जो वर्तमान का सूचक है। इस प्रकार इस महावाक्य से 'तू वह है' अर्थ द्योतित होता है जिसका अर्थ है "कारणरूप चिदचिद्विशिष्ट"। जो प्रलयकाल में सूक्ष्म रूप में रहता है वह 'तू' सृष्टिकाल में स्थूल 'चिदचिद्विशिष्ट' है।

इस कथन से दोनों विशिष्ट स्वरूपों का अद्वैत अर्थात् अभेद सिद्ध होकर 'विशिष्टाद्वैत' पद संघटित होगया। इस सिद्धान्त में तीनों तत्त्व भिन्न और नित्य माने गये हैं, तो भी जीव और माया की स्थिति परमात्मा के अधीन है, स्वतंत्र नहीं है और शरीर-शरीरी-भाव होने से इन दोनों को परमात्मा का अपृथक्सिद्ध विशेषण कहा गया है। इस प्रकार भेदवाक्य और अभेदवाक्य दोनों की संगति बैठती है।

ऐसा स्वरूप मानने से ही 'ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' आदि अभेद-व्यवहारों की योग्यता होती है, नहीं तो प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु को विष्णु कह कर जो लिखा गया है, वह कैसे बनेगा? वस्तु स्थिति में तो प्रपंच और अन्तर्यामी पृथक् हैं ही। इस दृष्टि से देखने पर आप स्वयं माया, जीव और ईश्वर ,इन तीनों के पुंज हो। तीनों का व्यवहार यथास्थल अपने-अपने में बन जाता है। 'मैं काला हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं बौना हूँ', 'मैं लम्बा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', 'मैं मोटा हूँ', आदि वाक्यों में आपका 'मैं' शब्द माया का वाचक है, क्योंकि इसका प्रयोग मायिक शरीर के लिए हुआ है। जब आप 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं चिन्तित हूँ', 'मैं कुछ जानता हूँ', 'मैं आशावान हूँ', आदि वाक्य कहते हैं तो मैं शब्द जीव का सूचक बन जाता है, और 'मैं' ब्रह्म हूँ' के कहने में आपके 'मैं' का प्रयोग [illegible] परमात्मा के लिए होता है। प्रमुख शरीरी परमात्मा सब से ऊँचा होने से तीसरी कोटि, "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) की, सबसे ऊँची बनी हुई है, क्योंकि नीचेवाली अन्य दोनों कोटियों में 'अहं' (मैं) का स्थिर करना अप्रधान की प्रधान रूप में कल्पना करना है, किन्तु इस तीसरी अन्तिम कोटि में 'अहं' का स्थिर होना प्रधान की प्रधान रूप से प्रतीति है, जीव द्वारा ईश्वर को मानना नहीं है। यदि जीव 'अहं' का अनुसंधान करे तो भगवान् शेषी अन्तःप्रविष्ट रहने से 'अहं' पदार्थ द्वारा अन्ततोगत्त्वा परमात्मा की प्रतीति होती है। ज्ञान और अज्ञान की अवस्था में इस अनुसंधान के सम्बन्ध में अन्तर रहता है। जिज्ञासु

को उससे अवगत होना भी अनिवार्य है। शरीरवाची शब्द शरीरी तक जाता ही है। इस दृष्टि से यदि भगवान् का शरीर अचेतन को कहा जाय तो ज्ञानी न होने से वह अचेतन 'अहं' के साथ अनुसंधान करने में असमर्थ है, और यदि जीव को अचेतन की तरह भगवान् का शरीर कहा जाय तो ज्ञानवान होने से जीव 'अहं' के साथ अनुसंधान करने में समर्थ है। यह जीव शरीर और विशेषण होने से 'अहं' पद शरीरी और विशेष्य परमात्मा तक गये बिना नहीं रहेगा। हाँ, जब यह वेदान्त ज्ञान नहीं होता कि 'परमात्मा जीवान्तर्यामी है तभी जीव अपने आप को 'अहं' द्वारा अवगत करता है। इसी कारण अहंकार निन्दित कहा गया है, अर्थात् इस 'अहं' का झंडा जीवात्मा पर गाड़ना निन्दित है और उसे परमात्मा पर समझना वेदान्त ज्ञान है। परमात्मा प्रमुख होने से 'अहं' पदार्थ से ब्रह्मज्ञान होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), ऐसा भान होने लगता है। इसमें पहले 'अहं' से जीवात्मा का अनुसंधान दीखता है। शेषी और नियामक परमात्मा भीतर रहने से ज्ञानावस्था में 'अहं ब्रह्म' पदार्थ की स्थिरता जीवात्मा में नहीं होती, परमात्मा में होती है क्योंकि ज्ञानावस्था में प्रधान को ही प्रधान कहना बनेगा, अप्रधान को प्रधान कहना नहीं बनेगा।

'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ 'मैं ब्रह्म हूँ' करके जीव को ब्रह्म अथवा ईश्वर कहने लग जाने और इन दोनों में सर्वथा अभेद करके दो नामों का एक द्रव्य जैसा मान लेने से बड़ा अनर्थ होगा। उस दशा में भेद-श्रुतियों का अर्थ छोड़ना पड़ेगा, किन्तु जिस प्रकार अभेद श्रुतियों का अर्थ नहीं छोड़ सकते उसी प्रकार भेद-श्रुतियों का अर्थ भी नहीं छोड़ सकते।

उदाहरण के लिए एक राजसभा की कल्पना कीजिए। राजा चेतन है, वह प्रधान है और ईश्वर के स्थान पर लिया जा सकता है। सभासद् भी चेतन हैं, परन्तु वे राजा की अपेक्षा अप्रधान हैं और जीवों के स्थान पर लिये जा सकते हैं। सभासदों के वस्त्र भी अप्रधान है, वे जड़ हैं और इस उदाहरण में माया के स्थान पर लिये जा सकते हैं।

राजा, सभासद् लोग, और उनके वस्त्र (सभोचित), इन तीनों को मिलाकर ही 'राजसभा' कहते हैं जिसे 'ब्रह्म' का उपमान माना जा सकता है। राजसभा एक पुंजीभूत अस्तित्व है। यदि उसका 'अहं' केवल वस्त्रों का वाचक मान लिया जाय तो उससे अप्रधान की प्रधानता और केवल अचेतन की ही प्रतीति होगी। यदि राजसभा के अस्तित्व का 'अहं' सवस्त्र सभासदों पर स्थित माना जाय तो उसमें भी अप्रधान की प्रधानता होगी क्योंकि तीनों में प्रधान राजा किसी गणना में नहीं आता। यदि उस राजसभा के अस्तित्व का 'अहं' वस्त्रसभासद्विशिष्ट राजा पर स्थिर किया जाय तो यह बात यथार्थ होगी क्योंकि इसमें प्रधान की ही प्रधानता प्रतीत होती है और दोनों अप्रधान इसके साथ रहते हैं क्योंकि मुख्य विशिष्ट को लेने से विशेषण साथ आजाते हैं, वे पृथक् नही रहते और न खोही जाते हैं।

भेद और अभेद वाक्यों की संगति

अज्ञान दशा से निवृत्त होकर जीव ही को ज्ञान-दशा की प्राप्ति कही जायगी और फिर 'अहं' पूर्वक अनुसंधान करनेवाला जीव ही ठहरेगा, किन्तु जीव की ब्रह्म के साथ एकता मानना एक प्रकार से अनर्थ होगा। यह माना कि 'अहं' के रूपमें अनुसंधान करनेवाला जीव ही ठहरेगा, किन्तु वह अनुसंधान क्या होगा? यह समझने की बात है। तीनों के पुञ्ज में परमात्मा मुख्य है, इसलिए जीवात्मा अनुसंधान करते समय 'अहं' पदार्थ की स्थिरता अपने में नहीं करता, परमात्मा में करता है, क्योंकि अप्रधान का प्रधान करना ज्ञान नहीं हो सकता। घट में जो नीलापन है वह विशेषण है, घट विशेष्य है, परन्तु यह विशेषण अपृथक् सिद्ध है। 'नीलो घटः' (नील घट) ऐसा बोलने में आता है, 'नीलवान् घटः' (नीलवान् घट है) ऐसा नहीं बोला जाता। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—यदि किसी पुरुष के हाथ में यष्टि हो तो 'नीलो घटः' की तरह उसे 'यष्टि पुरुषः' नहीं कहा जा सकता, 'यष्टिवान् पुरुषः' ही कहा जायगा क्योंकि यष्टि पुरुष से पृथक् सिद्ध है। जब पुरुष चाहता है तब वह

यष्टि को हाथ से अलग रख देता है और जब चाहता है तब फिर उठा लेता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पृथक्सिद्ध विशेषण के साथ विशेष्य का सामानाधिकरण्य नहीं होता है, अपृथक्सिद्ध विशेषण के साथ ही होता है। इस प्रकार तत्त्वतः एकता नहीं होती है और विशेषण का विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य संघटित होने से अभेद दिखानेवाले वाक्यों की संगति बैठती है।

उपर्युक्त मर्यादा से इस सिद्धान्त में भेद-अभेद दोनों भली प्रकार से घटित हैं और बड़े सुख की बात है कि 'भेद-श्रुति', अभेद-श्रुति', 'घटक-श्रुति' आदि सब मुख्यार्थों की संगति ठीक-ठीक बैठ जाती है। न तो किसी का संकोच होता है और न किसी अर्थ को छोड़ने या बदलने की बात ही उठती है। यही 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त की शिषता है।

इस सिद्धान्त का तात्त्विक भेद और व्यावहारिक अभेद सिद्ध करने के लिए उस उत्तम सेवक का उदाहरण लिया जा सकता है जो स्वामी की वस्तु को अपनी ही सी मान कर स्वामी के हानि-लाभ के विषय में यह कहता है कि इसमें हमको यह लाभ है। तत्त्वतः वह सेवक स्वामी से भिन्न है तथापि स्वामी-सेवक-सम्बन्ध की परायणता से वह ऐसा अभेद व्यवहार करने लगता है और प्रशंसनीय होता है। लोग तो पत्रों तक में लिख देते हैं कि हम में और आप में कोई अन्तर नहीं है, आप मुझे अपना अभिन्न मित्र समझें आदि, किन्तु इससे तत्त्वतः सर्वथा अभेद नहीं हो जाता है।

तात्त्विक भेद

भगवान् नाम-रूप का व्याकरण (Manifestation) करने को इस प्रपंच में जो 'आत्मना' अनुप्रवेश करते हैं, वह जीवात्मा द्वारा करते हैं। इसी अर्थ को छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"। उपनिषद्वचन यह भी प्रकट करता है कि भगवान् जब ऐसा कहते हैं कि 'अनेन जीवेन' (अर्थात् 'इस जीव के द्वारा') तो इससे जीव और ईश्वर में भेद होना ईश्वर ही के वाक्य से सिद्ध होता है।

भगवान् के प्रत्येक नाम से उसकी वस्तु-स्थिति की व्याख्या होती है। उदाहरण के लिए 'पुरुषोत्तम' नाम को ही लीजिए। बद्धादि पुरुषों से उत्कृष्ट ही पुरुषोत्तम है क्योंकि कहा भी गया है कि "बद्धादि पुरुभ्षेयो यो ह्युत्कृष्टः पुरुषोत्तमः" अर्थात् जीवों के जो तीन भेद-बद्ध, मुक्त और नित्य हैं, उन तीनों प्रकार के पुरुषों से परमात्मा उत्तम है। इसलिए वह पुरुषोत्तम कहा गया है। यहाँ भी परमात्मा की उत्कृष्टता जीवात्मा की ही तुलना में रक्खी गई है, क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा दोनों अजड़ है। गीता में भी भगवान् ने यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही है :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
× × ×
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।।

अर्थात् लोक में दो पुरुष हैं, एक क्षर और दूसरा अक्षर। यहाँ क्षर शब्द से उन जीवों का बोध होता है जो माया में बँधे हुए हैं। उन्हीं को यहाँ 'भूत' नाम से अभिहित किया गया है और अक्षर शब्द से कूटस्थ अर्थात् उन जीवों का ग्रहण होता है जो अचित्-संसर्ग-वियुक्त हैं अर्थात् जो माया-बन्धन में नहीं हैं। इन दोनों पुरुषों से अन्य जो उत्तम पुरुष है उसी को परमात्मा कहा गया है और पुरुषोत्तम शब्द से उसी का ग्रहण है। गीता में भगवान् ने कहा है—

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः ।
तस्मात् वेदे च लोके च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ।।

अर्थात् मैं माया से परे हूँ और जीव से भी उत्तम हूँ, इससे लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाँम से विख्यात हूँ। विष्णुसहस्रनाम में 'प्रधानपुरुषेश्वरः' नाम भी आता है। उससे यही अभिप्राय है कि परमात्मा प्रधान (माया) और पुरुष (जीव) का ईश्वर है। इसी वचन का प्रतिपादन पुराण में इस प्रकार किया गया है:—

"बन्धहेतोः प्रधानस्य बध्दमाननृणां च यः।
नियामकस्सर्वदा सोऽस्ति प्रधानपुरुषेश्वरः ।।"

बन्धन के हेतु प्रधान (माया) में बँधे हुए मनुष्यों का जो सदा नियामक है, वह प्रधानपुरुषेश्वर है । इसका निरूपण मुनिवर पराशर ने विष्णु पुराण में उत्तम प्रकार से किया है। इसीसे यह वाक्य आता है—

"तत्त्वेन यश्चिदचिदीश्वर तत्स्वभाव भोगापवर्ग तदुपाय गतिरुदारः
संदर्शयन् निरममीत पुराणरत्नं तस्मै नमो मुनिवराय पराशराय ।।"†

अर्थात् निश्चय रूप से जिसने चित्, अचित् और ईश्वर, इनके स्वभाव, भोग, मोक्ष, उसका उपाय, और उदारगति का निरूपण करते हुए इस पुराणरत्न को बनाया उस मुनिवर पराशर को नमस्कार है।

कोई कोई ऐसा कहते हैं कि जब तक मनुष्य स्थूलबुद्धि रहता है, तब तक जीव और ईश्वर को भिन्न-भिन्न जानता है, इसलिए भेदवाद (द्वैतवाद) आरंभ का विचार है। जब वह परमात्मा को अन्तर्यामी करके समझने लगता है तो कुछ निकट पहुँचने के कारण भेदबुद्धि कुछ कम हो जाती है और विशिष्टाद्वैतवाद आजाता है। अन्त में दोनों जीव और ईश्वर एक प्रतीत होते हैं तो अभेदवाद आजाता है जिसको आजकल अद्वैतवाद कहते हैं। अद्वैतवाद के अनुसार तत्वतः जीव और ईश्वर में तीनों काल में सर्वथा अभेद है। भेदबुद्धि अज्ञान से हो रही है। शनैःशनैः उस अज्ञान के दूर हो जाने पर ज्ञान की स्थिति में सर्वत्र एक ब्रह्म ही दीखता है क्योंकि वास्तव में उनके विचार से है ही एक ब्रह्म, दूसरा कुछ है ही नहीं। अज्ञान अथवा भ्रम से जीव मान रक्खा है। इससे कहते हैं कि अभेदवाद शिखर है, द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनों उस पर चढ़ने की सीढ़ियाँ हैं।

---

† **परान् शरयतीति पराशरः अर्थात् जो कुत्सित प्रभावों को असत्प्राय करने वाला है, वह पराशर है।**

किन्तु यह बात तत्त्वप्रतिपादक नहीं है। तीन पृथक्-पृथक् विचारों को एक में मिलाना उचित नहीं है। हम आदि से दृष्टि बाँध कर जिस लक्ष्य पर चलते हैं, अन्त में उसी पर पहुँचते हैं। यह नहीं कि प्रारंभ एक लक्ष्य पर करें, मध्य दूसरे पर और अन्त तीसरे पर। यह असंगत और अप्रमाणित है और बीच-बीच में रस-भंग होने की बात है। पिछला परिश्रम जो काम आना चाहिए वह सीढ़ी-सीढ़ी पर व्यर्थ हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि एक मर्यादा को आदि से अन्त तक सिद्ध कर लिया जाय, फिर दूसरी को और अन्त में तीसरी को, तो यह बात भी बनने की नहीं है क्योंकि वे लोग पहली और दूसरी सीढ़ी को अज्ञान की कहते हैं। इस कारण प्रथम तो अज्ञान की शिक्षा देना ही अयोग्य है, दूसरे ज्ञानमार्ग से ज्ञानमार्ग में ही जा सकना संभव हो सकता है, चाहे नीची सीढ़ी से ऊँची सीढ़ी भले ही हो। अज्ञान को ज्ञान का कारण कैसे बनाया जा सकता है? सीढ़ी वह है जिस पर चढ़ने से आगे की सीढ़ी निकट आकर उस पर पैर रखने से सहारा मिले, पर यहाँ क्या सहारा है? उलटा कष्ट ही बढ़ता जायगा, क्योंकि पहले के बाँधे हुए संकेत और लक्षणादि तोड़ कर नए जमाने पड़ेंगे जिनमें कष्ट ही की संभावना हो सकती है। दूसरे यह विषय इतना बड़ा है कि अज्ञान ही की सीढ़ियों पर आयु बीत जायगी, साधक का उद्धार न हो सकेगा। एक विचार दृढ़ करके दूसरे में प्रवेश करने पर शरीरपात हो जायगा। वह एक ऐसी निकम्मी दशा होगी कि पिछला किया हुआ खो जायगा और अगला भी हाथ आएगा नहीं। तीन भिन्न सीढ़ियों का मानना संगत नहीं है। इसलिए पूर्वाचार्यों ने बहुत मनन करके भक्तिसिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैतवाद' स्थिर किया है।

उन्होंने तीनों तत्त्वों में मुख्याधिष्ठान परमेश्वर को माना है। वह एक ही रहेगा, शेष चिदचित्, दोनों उसके द्वारा अधिष्ठित विशेषणमात्र रहेंगे। तीन तत्त्वों को तीन न जानना, दोको अंधकार में रखना या भुला देना ज्ञान नहीं है, अज्ञानमात्र है। ज्ञान-

दशा में अपरोक्ष को भला भुलाया भी कैसे जा सकता है? 'एक ब्रह्म है', इससे केवल यही अभिप्राय लेना चाहिए कि [illegible] का अधिष्ठान एक परमेश्वर ही है। ऐसा कहने में उसके द्वारा अधिष्ठित में प्रपंच-भाव रहेगा, जायगा नहीं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि माया, जीव और ईश्वर, ये तीनों अनादि हैं। शरीर में शरीरी अन्तःप्रविष्ट रहने से एकवत् वाणी-व्यवहार हो जाता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि तीन तत्त्व मिट गए, केवल एक रह गया। जिस प्रकार 'अभेद-श्रुति' मुख्यार्थ है वैसे ही 'भेद-श्रुति' मुख्यार्थ है। इसको अज्ञान की श्रुति अथवा नीचे की सीढ़ी कहना बुद्धिमत्ता नहीं है।

अज्ञान का आश्रय

इसके अतिरिक्त जीव की स्थिति अज्ञान वा भ्रम से मान लेने पर अज्ञान वा भ्रम और मानना पड़ता है, परन्तु यह आएगा कहाँ से? ईश्वर के सिवा तो इस तर्क में कुछ माना ही नही गया था। जीव और माया के निराकरण से, ईश्वर के सिवा और कुछ न रहने से, अज्ञान वा भ्रम भी ईश्वर ही में मानना होगा। ऐसा कहना ईश्वर की ईश्वरता का अनादर होगा। ईश्वर में तो अज्ञान वा भ्रम का काम ही नहीं है, वह तो जीव में ही रहता है। वह भी उस (जीव) के स्वरूप में नहीं, केवल माया के सम्बन्ध से ही रहता है।

जीव और अज्ञान

जीव की स्थिति अज्ञान वा भ्रम से होने का अभिप्राय यह लिया जाय तो अयुक्त नहीं है कि अज्ञानदशाप्राप्त जीव मायाविशिष्ट है। उसका अज्ञान दूर होजाने से वह शुद्ध मुक्तात्मस्वरूप हो जाता है। यह कहना कि ज्ञानावस्था प्राप्त होने पर सर्वत्र एक ब्रह्म ही दीखता है, उपहासास्पद है। ऐसा उपदेश करनेवाले को ज्ञान प्राप्त होने पर सब ब्रह्म दीखने चाहिए थे। फिर उपदेश किसको किया गया? यदि यह कहा जाय कि उपदेश के समय उसको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तो अज्ञानी के उपदेश में क्या तथ्य हो सकता है? क्या वह मान्य है?

जगत् को मिथ्या कहना भी भूल ही है। अजा और अज वाले प्रकरण में पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् सत्य है। जो सामने दीखता है उसको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? परिणामी होने से संसरण करता रहता है, बदलता रहता है। इसी कारण उसे संसार कहा जाता है। यदि भगवान् को नित्य मानते है तो उनकी विभूति को भी नित्य मानना होगा। राज्य-सम्पत्ति-विरहित पुरुष को राजा कौन कहता है? इसी प्रकार ऐश्वर्य बिना ईश्वर कैसा? भगवान् को जगत् का रक्षक और पालक माना जाता है। जगत् को मिथ्या मानलेने से वह मिथ्या-जगत् का पालक सिद्ध होता है और व्याप्य के बिना उसको व्यापक कहना भी अनर्थ होगा। रात-दिन हम लोग खाते हैं, पीते हैं, सूँघते हैं, स्पर्श करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं—यह सब जगत् है और हम लोग भी जगत् हैं, या यों कहिए कि जगत् में है। यह सब कुछ व्यवहार करते रहना, फिरभी निषेध करते रहना बिल्कुल इसी तरह की बात है कि एक पुरुष ने दूसरे से कुछ पूछा तो, उसने उत्तर दिया कि मरा हुआ आदमी भी कहीं बोला करता है? मै तो परसों मर चुका हूँ। पूछनेवाले ने कहा—आप बोल रहे हैं, इसलिए प्रामाणिक रूप से आप मरे नहीं, जीवित हैं; फिर भी आप अपने को मरा कैसे समझते हैं? वह बोला—एक ज्योतिषी ने मुझसे कहा था कि तुम १५ तारीख को मर जाओगे। पन्द्रह तारीख परसों बीत गई। मुझे ज्योतिषी की बात का विश्वास है। मैं निश्चित रूप से परसों मर चुका, जीवित नहीं हूँ, मृतक हूँ। इस जगत् को मिथ्या बताना वैसी ही बात है।

जगत् का स्वरूप

जो लोग संसार को मिथ्या कहते हैं वे यह भी कहते हैं कि वह स्वप्नवत् मिथ्या है, पर स्वप्न को मिथ्या कहना भी मिथ्या है। स्वप्न जिस अवस्था में होता है, उसमें मिथ्या नहीं होता। स्वप्नावस्था के सुख-दुःख स्वप्न काल में भोगे जाते हैं और उस काल में सत्य ही होते हैं। इसी प्रकार

क्या जगत् मिथ्या है?

जाग्रत अवस्था के सुख-दुःख जाग्रत काल में भोगे जाते हैं और सत्य होते हैं। पिछले मास में आपके मित्र को पुत्र-जन्म का सुख हुआ था। वह सचमुच हुआ था या नहीं? थोड़े दिन पहले जब आपके पड़ौसी के पिता का देहावसान हुआ था, वह दुःखी होकर हाय-हाय करता था। वह दुःख सचमुच दुःख था या नहीं? किसी को सिंह खा गया और किसी को उच्च पद मिल गया—ये सब व्यवहार रातदिन प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। फिर मिथ्या कैसे कहे जा सकते हैं? यदि यह कहा जाए कि ये व्यवस्थाएँ सदा एकसी नहीं बनी रहतीं, स्थायी नहीं हैं, परिवर्तनशील हैं, तो ठीक है। इसी कारण प्रपंच को परिणाम भी कहा जाता है। यह इसका स्वभाव है। एकसी स्थिति तो लगातार सूर्य-चन्द्रमा की भी नहीं रहती। 'सृष्टि रचे जाने पर परमात्मा इनकी भी पुनः पुनः यथापूर्व कल्पना करता है', यह वेद† में लिखा है, परन्तु इससे जगत्, जो ईश्वर की सम्पत्ति है, मिथ्या सिद्ध नहीं होता। प्रकृति की दशा को, चाहे समष्टि रूप में लीजिए चाहे व्यष्टि रूप में, मिथ्या नही कहा जा सकता। हाँ स्थूल-सूक्ष्म का व्यवहार कहा जाता है। यदि यह सत्य है कि 'ईश्वर की माया अजा है, अनादि काल से चली आती है तो उसके भीतर वर्तमान अवस्थाएँ भी, चाहे वे जाग्रत जगत् की हों चाहे स्वप्न जगत् की, सत्य हैं। सत् वस्तु का अभाव तो कभी हो ही नहीं सकता। स्वभाव-परिणाम और स्वरूप-परिणाम, ये दोनों प्रकृति में होते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है। हाँ, कभी-कभी देखी हुई बात को भी समझने की आवश्यकता होती है, इस प्रकार :—एक आदमी घोड़े पर चढ़ा हुआ जा रहा था, पर उसको भूल गया और किसी आने वाले से पूछा कि मेरा घोड़ा खोगया है। क्या तुम्हें वह कहीं मार्ग में मिला था? पथिक बोला—आप चढ़े किस पर जाते हैं? घोड़ेवाले ने नीचे घोड़े की ओर देख कर कहा कि भाई सूझ से बूझ बड़ी है।

---

† **ऋतञ्च** × × **सूर्याचन्द्रमसौ** × × **दिवञ्चपृथिवीं** × ×

अध्याय २

जीव और ईश्वर का संबंध

अब प्रश्न यह उठता है कि जीव और ईश्वर दोनों में सर्वथा अभेद स्थिर करके दो नाम का एक द्रव्य मान लेने से किस अनर्थ की संभावना है? इसका सुन्दर उत्तर इस श्लोक में दिया गया है—

अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः ।
अविद्यातरुसंभूतं बीजमेतत् द्विधा स्मृतम् ।।

अर्थात् शरीर जड़ है, उसमें चेतन आत्मा की बुद्धि करना और पराये धन को अपना मानलेना, ये दोनों बीज अविद्या वृक्ष को उत्पन्न करते हैं। ऐसा मानना बन्धन की सामग्री जुटाना है। महाभारत में भी कहा गया है:—

योऽन्यथासन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ।।

आत्मा दूसरे प्रकार का है। उसको जो दूसरे प्रकार से प्रतिपादन करता है, आत्मा की चोरी करनेवाले उसने भला कौन सा पाप नहीं किया? अभिप्राय यह है कि जीवात्मा परमात्मा की सम्पत्ति है, फिर स्वामी के साथ उसका सर्वथा अभेद स्थिर करके दो नाम का एक द्रव्य जैसा मानलेना आत्मा की चोरी करना है। इससे तो जीवात्मा के स्वामी के स्वत्व का ही नहीं, स्वयं उसके स्वरूप का अनादर सा किया जाता है। स्वामी को दास समझ लेने में और दास को स्वामी समझ लेने में स्वामी का ही अनादर है, क्योंकि अप्रतिष्ठा बड़े की हुआ करती है। यहाँ बड़ा परमात्मा है। वह प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठा से ऊपर है। उसकी अप्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। परमात्मा के स्वत्व या स्वरूप को गिराने में स्वयं गिरानेवाले का ही अधःपतन है क्योंकि ऐसा व्यवहार जीवानुरूप नहीं है। स्वामी को सम्पत्ति या

सम्पत्ति को स्वामी कहने में केवल अन्यथाप्रतिपादन है, जो पाप है और बंधन की सामग्री है।

जीव जात्या एक है, किन्तु स्वरूप से नाना हैं। उपनिषद् में भी आया है कि 'भीतर प्रवेश किये हुए जो जनों पर शासन करता है वह सर्वात्मा है'। इस वाक्य में 'जनों' शब्द बहु-वचन है और 'सर्वात्मा' शब्द एकवचन है। इससे स्पष्ट है कि जीव अनेक हैं और भिन्न-भिन्न हैं और परमात्मा एक है जो सब में सर्वात्मा होकर रहता है।

जीवानेकता

जो एक देश में अत्यन्त छोटा होकर रहता है उसको अणु कहते हैं और जो एक ही सर्वत्र रहता है उसे विभु कहते हैं। जीव एकदेशीय है, उसका स्वरूप अणु है। परमात्मा सर्वदेशीय है, विभु है, इसी कारण उसे सर्वात्मा कहा जाता है। यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि जीव को विभु मानने में क्या दोष है? ऐसा मानने से श्रुति झूठी सिद्ध होती है। 'श्रुति ह्येवायमात्मा' वाक्य उक्त प्रश्न के लिए कोई अवकाश ही नहीं छोड़ता। इससे जीव की हृदय में स्थिति प्रमाणित हो जाती है। साथ ही श्रुतिद्वारा जीव का उत्क्र-मण एवं उसकी गमनागमन क्रिया भी प्रतिपादित होती है। जीव का शरीर से उत्क्रमण वृहदारण्यक की इस श्रुति से प्रमाणित हो जाता है—

जीव की अणुता और एकदेशीयता

"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य :"

उसीसे यह आत्मा नेत्र से, मूर्द्धा से अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से बाहर निकलता है। **बृहदारण्यक ४. ४. २**

उसके गमन में कौषीतकी उपनिषत् की यह श्रुति प्रमाण है

"ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"

यह बृहदारण्यक की श्रुति आगमन में प्रमाण है :—

तस्माँल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे"।

तथा लोकान्तरगमनादिक में ब्रह्मसूत्र प्रमाण है:—

"उत्क्रांतिगत्यगतीनां"।

अब विचार यह करना है कि जीव को 'अणु' मानने से तो उसकी एकदेशस्थिति तथा आना-जाना संगत हो जायगा और 'विभु' मानने से यह सब निरर्थक हो जायगा क्योंकि विभु सर्वत्र रहने से उसका आना-जाना बन ही नहीं सकता। शास्त्र नें जीव को अणु स्वरूप बताया है। मुण्डकोपनिषत् का वचन है:—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:" श्वेताश्वतरोपनिषत् का वचन है:—"बालाग्रशतभागस्य शतधा-कल्पितस्य च भागो जीव: स विज्ञेय:," अर्थात् बाल के अग्रभाग के शतशतांश प्रमाण जीव को समझना चाहिए। उसी उपनिषत् का दूसरा वचन यह है— "आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्ट:" अर्थात् जीव सुई के अग्रभाग के बराबर है। विष्वक्सेन संहिता का वचन है—

"स्वरूपमणुमात्रं स्यात् ज्ञानानन्दैकलक्षणम्।
त्रसरेणु प्रमाणस्ते रश्मिकोटिविभूषिता: ॥"

इन सब प्रमाणों में जीव अणुस्वरूप प्रतिपादित होने से तथा पहले कहे हुए वचनों से जीव के 'आना, जाना, निकलना' आदि व्यवहार स्पष्टत: सिद्ध होने से उसे विभु नहीं माना जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जीव को अणु मान लेने से इसकी स्थिति एकदेशीय बन जायगी, फिर इतने बड़े शरीर में कहीं भी चोट लगने पर पीड़ा क्यों होती है? अथवा एक ग्राम में बैठा हुआ अणु जीव पाँच सौ कोश की बात कैसे कह देता है?

जीव के धर्म की विभुता

इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए धर्म और धर्मी का समझना आवश्यक है। अणु स्वरूप जीव धर्मी है और चारों ओर फैलने वाला उसका ज्ञान धर्म है। जैसे दीपक धर्मी है और उसका प्रकाश जो चारों ओर फैलता है, वह धर्म है। एक धर्मीभूत ज्ञान होता है, एक धर्मभूत। चारों ओर अपना प्रकाश फैलाने के लिए दीपक अपना

स्थान नहीं छोड़ता फिरता। वह अपने स्थान पर रहता है। चारों ओर फैलने की शक्ति प्रभा में है जो धर्मभूत ज्ञान है। इस उदाहरण में इतनी सी कमी रहती है कि दीपक जड़ होने से इसकी प्रभा के सम्बन्ध में कहा हुआ 'ज्ञान' पद उपयुक्त एवं सार्थ नहीं है। यहाँ इससे केवल अभिप्राय समझ लेना चाहिए। 'ज्ञान' पद का प्रयोग चैतन्य जीव के संबंध में ठीक और सार्थ है। धर्मभूत ज्ञान के बिना धर्मी तथा अन्यान्य द्रव्यों का बोध नहीं होता है, जिसके लिए धर्मभूत ज्ञान अपेक्षित रहता है। धर्मी में धर्मीभूत ज्ञान की यथार्थता यह है कि उसको अपने स्वरूप का बोध करने में धर्मभूत ज्ञान तथा अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती है। दीपक की प्रभा के बिना घटपटादि अनेक वस्तुओं को कोई नही देख सकता और दीपक को भी नहीं देख सकता। यह धर्मभूत ज्ञान दिखानेवाला होने से इसकी इतने व्यवहार के लिए आवश्यकता रहती है, परन्तु दीपक को स्वयं अपने स्वरूप को देखने में उस प्रभा तथा अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। उसका जो धर्मीभूत ज्ञान है वही पर्याप्त है। इस व्यवहार को जीव पर समझ लेना चाहिए। कहीं जीव का विभुत्व प्रतीत होने पर यह समझ लेना चाहिए कि उस धर्मी का स्वरूप विभु नहीं है, उसका (जीव का) धर्मभूत ज्ञान ही विभु है।

उपर्युक्त विवेचना में जीव को ज्ञानानन्द लक्षणवाला और उसके धर्मभूत ज्ञान को फैलनेवाला कहा है, किन्तु इसका ज्ञान सर्वत्र फैला हुआ नहीं दीखता, संकुचित रहता है। नहीं तो इसके पास विभु स्वरूप ज्ञान मौजूद है और परमात्मा के स्वरूप से बढ़ कर कुछ भी जानने योग्य नहीं है। उसको जानने में कितना बड़ा आनन्द रहे!

जीव के ज्ञान-संकोच का कारण

जीव के ज्ञान-संकोच का कारण माया है। उसीने जीव के धर्मभूत ज्ञान को ढक रक्खा है। अतएव यह चेष्टा होनी चाहिए कि जीव के ऊपर से माया का भारी आवरण हट जाए। जीव में ज्ञान को कहीं बाहर से नहीं लाना है, वह तो इसके स्वरूप ही में विद्यमान है। माया के हटने

से वह स्वयं फैलेगा। इसीलिए एक पूर्वाचारी ने श्रीमन्नारायण के प्रति कहा है—

"उल्लंघितत्रिविधसीम समातिशायीसंभावनं तव परिब्राढं स्वभावं।
माया बलेन भवतापि निगुह्यमानं पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः" ।।

अर्थात् त्रिविध सीमा,† सम, अतिशय एवं संभावना का उल्लंघनवाले, परम ऐश्वर्यवान् अपने स्वरूप को आपने ही माया के बल से छिपा रक्खा है, उसके निरन्तर दर्शन वही लोग करते हैं जो आप में अनन्यभाव हैं।

संसारी लोग प्रायः इस माया को छोड़ने के पथ पर नहीं चलते, प्रत्युत उसको अधिकाधिक पकड़ते चलते जाते हैं। भोजन मेरा है,

माया की जटिलता

वस्त्र मेरा, स्त्री मेरी, बन्धु-जन मेरे—इस प्रकार मेरा, मेरी और मेरे में 'मे' 'मे' कहनेवाले पुरुषरूपी बकरे को काल-वृक मार डालता है"।‡ पुरुष ममता के प्रभाव से मेरा-मेरा करता हुआ माया में लिप्त होता चला जाता है। जो माया से अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं वे ममता और अस्मिता से मुक्त होने का सतत प्रयत्न करते हैं। "अहंकार रूपी चाण्डाल के मर जाने पर उसकी पतिव्रता स्त्री ममता भी नष्ट हो जायगी और स्तन्य से विरहित होकर उसके दोनों स्तन्यपायी शिशु (राग-द्वेष) भी नष्ट हो जायँगे।¶

---

† त्रिविधसीमा—देश, काल, निमित्त। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् का स्वरूप अमुक देश से अमुक देश तक है, आगे पीछे नहीं है; और यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक काल से अमुक काल तक है, आगे-पीछे नहीं है; और न यही कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु के तुल्य है, अथवा अमुक वस्तु से इतना बड़ा-छोटा है; अतएव देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद तथा वस्तु-परिच्छेद-ये तीन सीमाएँ भगवान् के साथ लागू नहीं होतीं हैं।

‡ अशनं मे, वसनं मे, जाया मे, बन्धु-वर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ।।

¶ नष्टेऽहंकारचाण्डाले सा नश्येन्ममता सती।
नश्यता स्तन्यविरहात् रागद्वेषाविमौ शिशू ।।

यह अहंकार उसी समय प्रबल दीख पड़ता है, जब हम परमशक्ति को भूल कर अपनी डेढ़चावल की खिचड़ी अलग पकाने लगते हैं और अपने आप को आगे निकालते चले जाते हैं। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हम परमात्मा के दास हैं अथवा उसकी वस्तु हैं। इसलिए स्वामी के महत्व का जितना वर्णन किया जाए उतना अच्छा है, यह नहीं कि वस्तु स्वामी को छोड़ कर आगे निकलकर अपनी ही टेंटें करने लगे। उसे अपने स्वरूप के अनुरूप व्यवहार करना है। यही कल्याणकर भी है। इस जगत् में देखने में आता है कि किसी यश के कार्य के बनने पर लोग अपने आप आगे निकल कर कहते हैं कि यह हमने किया है और अपयश का काम होने पर अपने को पीछे छिपाकर उसको परमात्मा पर डाल देते हैं कि हम क्या करें ? अपना वश भी क्या है ? प्रभु की इच्छा प्रबल है। यह 'कड़ुवे के प्रति थू-थू और मीठे के प्रति हप-हप' स्पष्टरूप से नीचता है। करना तो यह चाहिए कि उत्तम कार्य के यश को परमात्मा के चरणों में समर्पित करदें और अपयश स्वयं स्वीकार करें।

सांसारिक लोग निष्काम कर्म नहीं करते। वे इसी अभिप्राय से काम करते हैं कि या तो किसी का बुरा हो अथवा किसी लौकिक कार्य में सिद्धि हो। इसका परिणाम यह होता है कि बन्धन बना रहता है। आवागमन का चक्र अनन्त है। कर्म-बन्धन में रहते हुए इस चक्र से छुटकारा नहीं मिलता। यही माया का बन्धन है।

जीव और अनादि बंधन

इस बन्धन में जीव अनादि काल से चला आता है। किसी तिथि या वार का नाम नहीं लिया जा सकता कि जीव अमुक समय से बंधन-गत है। जन्म-मरण से सम्बन्ध जोड़कर इस बन्धन को साद्यन्त नहीं कह सकते। ऐसा मानने से परमेश्वर में दोष आता है क्योंकि एक आदमी दरिद्र पैदा होता है और एक लक्षाधीश। क्यों ? दोनों की पृथक्-पृथक् दशा उनके निज-निज कर्म के अनुसार है। यदि ये कर्म-भोग नहीं हैं, तो क्या उन्हें परमात्मा ने ही ऐसा पैदा किया है ? यदि वह

ऐसा करता है तो उसमें वैषम्य दोष सिद्ध होता है, वह पक्षपाती सिद्ध होता है, क्योंकि पिछले कर्मों की तो कोई बात ही नहीं उठती और नए प्राणी परमात्मा के उत्पन्न किए हुए हैं। धनी और निर्धन का भेद उसीने किया है। आदि ही में यह भेद परमात्मा का अन्याय ठहरता है। इस जगत् में अनेक प्राणी अपने सामने ही ऐसे जन्म लेते हैं कि वे जन्म से ही अंधे, रोगी तथा दुःखी होते हैं और अनेक बड़े सुन्दर अंगोंवाले, नीरोग तथा सुखी होते हैं। इससे यह भी कल्पना होगी कि परमात्मा बड़ा नृशंस है कि बिना कारण के ही वह अनेक जीवों को आदि ही में दुःखी कर देता है। इस दोष का परिमार्जन उसी दशा में हो सकता है जब कि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक जीव को निजकृत शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए आवागमन के चक्र में प्रवेश करना ही पड़ता है क्योंकि संसार में
अमिट है, जैसा कारण होगा वैसा कार्य होगा। कार्यरूप फल कारण-रूप कर्म के सम्बन्ध से है। ऐसा मानने से परमात्मा में वैषम्य और नैघृण्य दोष नहीं आता है। व्यास-सूत्र इसी मत का प्रतिपादन करता है:—"**वैषम्य नैघृण्येन सापेक्षत्वात्**"

जीव के अनादि होने से उसका बन्धन भी अनादि ही मानना पड़ेगा। यह बंधन ही माया है, जिसको 'अजा' कहा गया है।

जीव-बंधन या कर्मफल तथा ईश्वर

शुभाशुभ फल में कर्म की कारणता स्वीकार करके भी हम उसे परमात्मा द्वारा नियंत्रित मानते हैं। यह ठीक है कि हत्यारा अपने अपराध से जेल में पहुँच जाता है। यह राजनियम है, परन्तु कोई बलवान् चेतन न रहने से उसे जेल में कौन पहुँचाएगा? इसके लिए राजशक्ति अपेक्षित रहती है। कर्म जड़ है और कार्य-कारण का नियम भी जड़ प्रकृति की ही व्यवस्था है, अतएव कर्म स्वतः फल तक नहीं पहुँच सकता। इस कारण एक ऐसी चेतन शक्ति की अपेक्षा रहती है जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो।

परमात्मा में ऐसी ही शक्ति की कल्पना की गई है। वह सर्वज्ञ होने से सब के कर्मों को जानता है और सर्वशक्तिमान् होने से सबको अपने-अपने कर्म-फल पर पहुँचा देने की पूर्ण सामर्थ्य रखता है और वही जीवों को यथायोग्य फल-भोग कराता है।

जो मुक्त जीव हैं उनके संबंध में तो बन्धन की कोई बात उठती ही नहीं है और जो बद्धजीव हैं उनके सम्बन्ध में यह कल्पना भी व्यर्थ ही होगी कि बंधन में आने की उनकी इच्छा हुई थी और न माया ही उनको पकड़ सकती है क्योंकि वे उसकी सीमा से बाहर हैं। फिर यह कहना भी अनुचित ही होगा कि परमेश्वर ने बलपूर्वक उन्हें माया के बन्धन में धकेल दिया, क्योंकि वह न तो उन्मत्त ही है और न भ्रान्त ही। वह प्रयोजनों से भी ऊपर है, इसलिए निरपराध जीवों को माया के बन्धन में डालने के लिए परमेश्वर के बलात्कार का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। माया का बन्धन अनादि है। इसका प्रमाण माण्डूक्योपनिषत् है कि "जीव अनादि माया से सोया हुआ है"।† किन्तु यह नहीं माना जासकता कि अविद्या वा अल्पज्ञान जीव के स्वरूप में है, उस पर आरोपित नही है। प्रकृति प्रलयावस्था में सूक्ष्म होकर परमात्मस्वरूप में लीन रहती है,‡ किन्तु परमात्मा से उसका अभेद नहीं होता। केवल नाम-रूप विना, सूक्ष्म होने से उसकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। सब पदार्थों से परमात्मा का सम्बन्ध नित्येच्छामूलक है, जीव का ऐसा नहीं है। जीव तो अनादि काल से कर्म करता और सुख-दुःख भोगता चला आता है। अविद्या प्रकृति को भी कहते हैं और तत्कार्य (अविद्याकार्य) अज्ञान को भी कहते हैं। यदि अविद्या वा अज्ञान जीव में आरोपित न होता, उसके स्वरूप में ही होता तो कभी दूर न हो सकता, परन्तु उसका दूर होना स्पष्ट है। उसके दूर होने से ही जीव की मुक्ति कही जाती है।

---

† "अनादि मायया सुप्तः"—माण्डूक्योपनिषत्

‡ "तमः परे देव एकीभवति"—

इससे यह निष्कर्ष निकला कि ज्ञान और शक्ति के बिना कुछ भी नहीं हो सकता क्योंकि जड़ कर्म अपने आप फल पर नहीं पहुँच सकता। माया जड़ है और जीव भोगनेवाला है, अतएव भोग करानेवाले सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की आवश्यकता होती है, परन्तु वह परमेश्वर भी कर्म के अनुसार ही भोग कराता है। वह कर्म उस माया का अंग है जो परमात्मा का विशेषण है। इससे सब में परमात्मा की ही प्रमुखता प्रतीत होती है।

परमात्मा के गुणों और नामों का माहात्म्य

वह परमात्मा अनन्तगुणयुक्त है। उसके प्रत्येक गुण में बड़ा भारी चमत्कार है। यदि एक-एक गुण को लेकर परमात्मा के नामों की गणना की जाय तो उसका भी कोई अन्त न होगा क्योंकि उसके नाम तो अनन्त होंगे। उस दिव्य मंगलविग्रह के न रूप-सौन्दर्य की सीमा है, न गुणों की और न नामों की। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने कहा है—"जिससे सब भूत युग के आदि में उत्पन्न होते हैं और युग के अन्त में वे सब उसी में प्रलीन होजाते हैं, उस लोक-प्रधान, जगन्नाथ, भूपति विष्णु के पाप-भय को मिटानेवाले सहस्र नामों को सुन। उस परमात्मा के जो गौण नाम विख्यात हैं और ऋषियों ने जिनका परिगान किया है, उनको कल्याण के लिए कहूँगा।"† उन नामों को गौण इसीलिए कहा है कि उनसे भगवद्गुण प्रतिपादित होते हैं। भगवान् का दिव्य मंगल विग्रह तो इस मायामण्डल में भ्राम्यमाण जीवों के दर्शन करने में आता नहीं है, और न वह वाणी और मन का विषय ही बनता है, जिसके वर्णन में वेदों को भी 'नेति-नेति'

---

† यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यस्मिंश्च प्रलयंयान्ति पुनरेव युगक्षये॥
तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्यभूपते।
विष्णोर्नाम सहस्रं मे श्रृणु पापभयापहम्॥
यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये॥

का ही सहारा लेना पड़ता है; इसलिए भगवान् के प्रकट रूप से सुविख्यात एक सहस्र गुणों के प्रतिपादित करने वाले नामों को सहस्रनाम की माला में ग्रथित करके भीष्म ने संसारी जीवों की उत्तम गति का मार्ग खोल दिया है। उन्होंने स्पष्टत: बतला दिया है कि सब धर्मों से अधिकतम धर्म अनेक स्तवों से सदैव पुण्डरीकाक्ष का भक्तिपूर्वक अर्चन करना है।†

करण, कारण
कर्त्ता, विकर्त्ता

उसी विष्णुसहस्रनाम के अन्तर्गत 'करणं, कारणं, कर्ता, विकर्ता' —ये चार नाम एक साथ आए हैं। पहले तीन नामों से भगवान् को उपादानकारण, सहकारीकारण, और निमित्त कारण कहा है। सूक्ष्म चित् और अचित् विशिष्ट होने से ब्रह्म की उपादानता है। इस भाव को लेकर उसे करण कहा है। काल और अदृष्ट आदि से विशिष्ट होने से 'सहकारिता' है। इस भाव को लेकर कारण कहा है। ज्ञान, शक्ति आदि से विशिष्ट होने से निमित्तता है, इस भाव को लेकर कर्त्ता कहा है। ये तीनों नाम ब्रह्म को कारण मान कर कहे गये हैं। ब्रह्म की कार्यरूपता उसी का विकार है। जो कारणावस्था में चित्, अचित् और ईश्वर है, उसी का स्थूल चिदचिद्विशिष्ट होना 'कार्यता' है। इस भाव को लेकर ब्रह्म को 'विकर्ता' कहा गया है।

उपादानता अवस्थाश्रयत्व है। कार्यता अवस्था में रहती है। सिद्धान्त में सब वस्तु नित्य होने से चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर में उपादानता है, केवल ईश्वर में नहीं है। घट का उपादान कारण मृत्तिका है जिसमें पिण्डत्व और घटत्व दोनों अवस्थाएँ होती हैं। घटत्वावस्था के प्रति पिण्डत्वावस्था कारण है। सब वस्तुओं में उत्तरावस्था के प्रति पूर्वावस्था कारण है। उपादान कारण की कार्य में नित्यस्थिति रहती है। अतएव उसे अधिष्ठान रूप से समझना चाहिए। अपने शरीर में ही जीव पर घटाकर देखिये कि बाल्य, कौमार, यौवन और

---

† एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मत: ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नर: सदा ।।

बार्द्धक्य अवस्थाएँ होती हैं। यह परिणाम शक्ति स्वतः जड़ माया में नहीं है। जीव के अधिष्ठान से बाल शरीर युवा शरीर हो सकता है, वृद्ध हो सकता है। जीव का अधिष्ठान यदि शरीर की बाल्यावस्था में ही दूर हो जायगा तो शरीर की कौमार, यौवन एवं बार्द्धक्य अवस्थाएँ नहीं होंगी। इस व्यवस्था में शरीर की अवस्थाओं के प्रति जीव की उपादानता समझनी चाहिए। अवस्थाश्रयत्व लक्षण होने से अविकारी-जीव-स्वरूप में यह उपादानता नहीं हो सकती है, शरीरविशिष्ट जीव-स्वरूप में हो सकती है। इस शरीर के उदाहरण को समझ कर आगे ईश्वर में लेचलना चाहिए क्योंकि भगवदधिष्ठान विना किसी भी पदार्थ में परिणाम-शक्ति स्वतः नहीं है, इसी कारण तो उपनिषत् ने यह कहा है कि ईश्वर प्रपंच में अनुप्रवेश करके आप ही चित् होगया और आप ही अचित् होगया। यह परिणाम शक्ति केवल ईश्वर में भी नहीं है और केवल चेतनाचेतन में भी नहीं है, भगवदधिष्ठित चेतनाचेतन में है। अवस्थाश्रयत्व के लक्षण को लेते हुए जीवाधिष्ठित शरीर में परिणाम-शक्ति चेतन अधिष्ठान के सहारे से है और इतना ही भेद चेतन स्वरूप और परमात्मस्वरूप का है। हाँ, यह बात अलग रही कि शरीर-संबंध से जीव को सुखित्व-दुःखित्वादि विकार हो जाता है। परमात्मा में यह नहीं होता है क्योंकि जीव तो कर्म-परवश होने से कर्मानुसार सुख-दुःखादि भोगता है और परमात्मा कर्माधीन न होने से शरीर-संबंध-युक्त सुख-दुःखादि नहीं भोगता है। उपादानता समझाने में यह "करण" नाम की व्याख्या हुई। अब चारों नामों के संबंध में चारों नामों की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिए:—

(१) करणं—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन ब्रह्मणः उपादानता।

(२) कारणं—कालाऽदृष्टादिविशिष्टत्वेन सहकारिता।

(३) कर्त्ता—ज्ञानशक्त्यादिविशिष्टत्वेन निमित्तता।

(४) विकर्त्ता—स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वेन कार्यता।

इस व्यवस्था को समझने के लिए घट का उदाहरण ले सकते हैं। घट-निर्माण में मृत्तिका उपादान करण है। वह, किसी एक अवस्था के आश्रय सेघट में निरन्तर रहती है। उसके बिना काम नहीं चल सकता। घट के निर्माण में काल, अदृष्ट रस्सी-चाक आदि सामग्री रहती हैं। ये सहकारी कारण हैं। बनाने वाला कुम्हार एवं उसमें घट बनाने की चतुरता, शक्ति, ज्ञान आदि निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार उस प्रधान पुरुषेश्वर में यह सब कारणता प्रथम तीन नामों "करणं, कारणं, कर्त्ता," के स्वरूप में स्थित है। कार्यावस्था में भी वही चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर स्थूल रूप से रहता है जो कारणा-वस्था में सूक्ष्म रूप से था। कार्यावस्था पूर्व सूक्ष्मावस्था का ही विकार है। अतएव इसमें होने से प्रभु का चौथा नाम विकर्ता हुआ है।

यह नामार्थबोध होकर संबंध-ज्ञान के साथ-साथ स्पष्टतः वेदान्त ज्ञान होजाता है कि परमात्मा शरीरी अधिष्ठान है। उसी में स्वतंत्रता के साथ धारकत्व लक्षण बनता है। उसके सहारे के बिना इस प्रपंच का एक क्षण भर भी ठहरना संभव नहीं है क्योंकि यह प्रपंच उसी के रूप में अधिष्ठित है और उसका शरीर होने से इसमें धार्यत्व लक्षण विद्यमान है। अथवा एक मोटा सा दृष्टान्त यह ले सकते हैं कि जिस प्रकार मेरुदण्ड के बिना मनुष्य का शरीर नहीं ठहर सकता अथवा दीवार वा पत्र बिना चित्र नहीं बन सकता उसी प्रकार परमात्मा के बिना यह प्रपंच नहीं ठहर सकता।

विलक्षण भक्ति

जब यह ज्ञान का प्रकाश होता है तो अंधेरे में पड़ी हुई भक्ति रूपी मणि दीखने लगती है। जब ज्ञानी पुरुष उसे उठाता है तो मानों उसमें कान्ति आजाती है और विशेष रुचि होती है। जब प्रभाव बढ़ता है तो भाव प्रेमवाणी द्वारा अनेकशः व्यक्त होने लगता है। कोई कहता है "त्रिलोकीनाथ को छोड़ कर कुछ भी सार नहीं है"। कोई कहता है—"बिना हुकम हालै नहीं तरवर हू को पात"। कोई कहता है—"मेरे तो जीवन कान्हा'। कोई कहती है—मेरे तो

गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई"। कोई बोलता है—"मेरे प्राणाधार तो केवल नंदलाल है"। कोई कहता है—"राम के बिना एक क्षण भरभी टिकने की योग्यता नहीं है"। कोई कहता है—"हे रघुनन्दन, आपकी सत्ता से यह चराचर का सब व्यवहार दीखता है"। कोई कहता है—"प्रभु, इस सारी [illegible] के मुख्य कारण आप ही हो"। कोई कहता है—"आपकी तनिक दृष्टि से ही सब जगत् की शोभा बनी हुई है, उसके तनिक हटा लेने से ही सब जगत् सिमट सकता है"। स्वामी यामुनाचार्य ने भी कहा है—

"नावेक्षसे यदि ततो भुवनान्यमूनि ।
नालं प्रभो भवितुमेव कुतः प्रवृत्ति ।।
एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः ।
स्वामिन् न चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम् ।।"

अर्थात् हे प्रभो! आपकी दृष्टि के बिना इन भुवनों का होना ही नहीं बनता, प्रकृति की तो बात ही क्या है! इस प्रकार स्वभाव ही से सब जीवों के सुहृद आप में आश्रित यह वत्सलता कुछ विचित्र नहीं है।" फिर भी भक्ति की प्राप्ति सहज नहीं है। नारद मुनि ने कहा है—"हज़ारों जन्मों में तप, ध्यान और समाधियों द्वारा जिन मनुष्यों ने अपने पापों को क्षीण कर दिया है उन्ही की कृष्ण में भक्ति होती है।"† यों तो भगवदनुग्रह से सब कुछ सुलभ होता है। किन्तु जो कुछ ऊपर बताया जा चुका है वह सब ज्ञान होने पर, तथा स्व, पर एवं विरोधी स्वरूप, उपायस्वरूप, और फलस्वरूप का ज्ञान होने पर तथा जीव और ईश्वर के संबंध का ज्ञान होने पर और उस संबंध के होते हुए जीव में स्वरूपानुसार रहने के ज्ञान के होने पर भक्ति का जो उदय होता है, वह विलक्षण होता है। इसीलिए भगवान् ने 'ज्ञानी भक्त' को सबसे अधिक प्रिय बतलाया है।

यदि ईश्वर सर्वज्ञ न होता तो घट-घट की बात कैसे जानता ?

---

† **जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः ।**
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ।।

उसको तो सबका न्याय करना है, अतएव सर्वज्ञता अनिवार्य है। साथ

ईश्वरीय सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता

ही उसकी सर्व शक्तिमत्ता भी अनिवार्य है, नहीं तो सामर्थ्य के बिना कर्मफल का यथायोग्य भोग कैसे करा सकता है? काल, अदृष्टादि सब अनुकूलवर्ती होते हैं, तत्त्वत्रय में किसी की अनित्यता न होने से सब व्यवस्था ठीक बैठने में कोई त्रुटि नहीं है।

कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि परमात्मा को साकार मानने से उसमें एकदेशीयपना का दोष आजायगा। ऐसी बुद्धि पूर्व संस्कारों

निराकार एवं साकार

के दुर्बल होने से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उसे सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न कहना और साथ ही साथ रूप-सम्पत्ति का दरिद्र मानना, कुबुद्धि नहीं तो क्या है? हम तो ऐसा भी नहीं कहते कि वह निराकार नहीं है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान् इस प्रपंच में आत्मा-रूप से अनुप्रविष्ट है। 'आत्मा-रूप' शब्द निराकार का ही बोधक है। निराकार के व्यवहार में निराकार-भाव लेना तो ठीक है, किन्तु साकार के व्यवहार में साकार का निषेध करना क्या चातुर्य है? चार प्रकार के मोक्षों में 'सारूप्य' का भी नाम आता है। यदि भगवान् को रूपरहित मान लिया जाय तो 'सारूप्य' की क्या स्थिति होगी, और सर्वान्तर्यामी के व्यवहार में सामीप्य और सालोक्य भी कैसे भरोगे? निराकार अन्तर्यामी तो अत्यन्त समीप है ही, फिर वर्तमान काल में सामीप्य मोक्ष क्यों नहीं है? अकेले सर्वव्यापी व्यवहार से कोई न्यारा लोक नहीं कहा जा सकता। फिर सालोक्य मोक्ष का निर्वाह कैसे होगा?

परमेश्वर का आकार परम सुन्दर और विलक्षण है और परमात्मा एकदेशीय भी है और सर्वदेशीय भी है। बद्ध जीव परमात्मा पर

ईश्वरीय सौन्दर्य

अपना नियम लागू नहीं कर सकता। परमात्मा ऐसा विलक्षण है कि उसके विषय में कोई भी तर्क ठहर नहीं सकता। जीव के रूप में ही कितना भेद है!

अणु होने से एकदेशीय रहने पर भी मुक्त होने के पश्चात् इसका ज्ञान संकुचित नहीं रहता, सर्वत्र फैल जाता है। परमेश्वर की बात तो दूर रही, यह तर्क तो जीव पर ही लागू नहीं होता। जगह-जगह साकार का वर्णन है। उस साकार मंगलविग्रह की प्राप्ति का नाम ही तो परमपद है जिसकी सब इच्छा करते हैं, अन्यथा अन्तर्यामी निराकार तो अत्यन्त निकट भाव से सब को अभी प्राप्त है। वह दिव्य आकार ऐसा सुन्दर है कि यदि कृपा से उसका दर्शन हो जाय तो फिर कुछ भी आनंद शेष नहीं रहता। एक क्षण में ही बेड़ा पार हो जाता है। पर उन दर्शनों की अभिलाषा किसको है? जो रुचि वास्तव में उन दर्शनों के लिए होनी चाहिए वह तो उसके निषेध में लग रही है। भला दर्शन का यह क्या उपाय है? और उपदेश भी किसको दिया जाय? "हज़ारों वर्षों से मनुष्यों को जिस बुद्धि की भावना होती आरही है, जीव उसी का सेवन करते हैं। अतएव उपदेश निरर्थक है।†

धर्म की अनेकरूपता

किसी बड़ी बात के संबंध में हज़ारों आदमियों की सम्मति पूछिए किन्तु सब की सम्मति कदाचित् ही एक होगी। यही बात धर्म के सम्बन्ध में है। धर्म एक बहुत बड़ी बात है। इसके सम्बन्ध में अनेक सम्मतियाँ हों तो आश्चर्य भी क्या? धर्म के सम्बन्ध में उन भिन्न मतों को ही सम्प्रदाय कहते हैं। अनेक सम्प्रदायों के अनेक रक्षक दीख पड़ते हैं, जिस प्रकार से अनेक दुकानों के अनेक रखवाले व मालिक दीख पड़ते हैं। किसी छोटी दुकान में थोड़ा माल दीखेगा और बड़ी दुकान में अधिक माल रक्खा हुआ दीखेगा। इसी प्रकार अनेक सम्प्रदाय इस धर्म की अनेक दुकानें हैं। धर्म बड़ा सम्पत्तिवान् है। उसके अनेक अंग हैं। कोई लोग अंगों को लेते हैं और कोई अंगी को। 'मुण्डे

---

† जन्मान्तरसहस्रेषु या बुद्धिर्भाविता नृणाम्।
तामेव भजते जन्तुरुपदेशो निरर्थकः॥

मुण्डे रुचिर्भिन्ना' के सिद्धान्त के अनुसार धर्मक्षेत्र में भी अनेक मत होगये हैं।

यदि पिता अपने अनेक पुत्रों को शिक्षा देना चाहे तो वह पहले उनकी स्वाभाविक रुचि का पता लगाता है क्योंकि जो शिक्षा उन बालकों की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल होगी वह सुगमता से दी जा सकेगी और विपरीत होगी तो बहुत बड़ा कष्ट उठाने पर भी उसका ग्रहण न हो सकेगा। उस स्वाभाविक रुचि के चिन्ह बाल्यावस्था से ही प्रतीत होने लगते हैं। तदनुसार ही पिता किसी को डाक्टरी, किसी को कैमिस्ट्री (रसायनशास्त्र) एवं किसी को कानून पढ़ाता है। यह व्यवहार की सुगम रीति जब धर्मोपदेश में आती है तो इसका नाम सम्प्रदाय हो जाता है। "जो भली प्रकार गुरु-परम्परा से दिया जाय, उपदेश किया जाय, वह सम्प्रदाय है।" उपदिश्यमान अर्थ ही सम्प्रदाय शब्द का अर्थ है। यह भी कुछ बुरी बात नहीं है, अच्छी ही बात है। पंथ वा पथ का अर्थ है मार्ग या पथ। धर्म की ऊँचाई पर जाने को मनुष्य जो मार्ग अंगीकार करता है वही उसका पंथ कहलाता है। आस्तिक मतों में तीन बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त मत।

वैष्णव, शैव और शाक्त मत

'विष् व्यापने' से विष्णु शब्द बनता है जिसका अर्थ सर्वव्यापी है। जो परमात्मा को इस प्रकार सर्वव्यापी मान कर उससे अपनी लौ लगाता है वह वैष्णव है। वह न कोठे में छिप कर रिश्वत लेगा, न किसी की हानि करेगा क्योंकि उसके इष्ट से कोई स्थान वा व्यक्ति रिक्त नहीं है। सब भगवद्विभूति है, फिर अन्याय कहाँ छिपकर किया जासकता है और कैसे? किसको हानि पहुँचाई जासकती है? जो मनुष्य मन, वाणी और कर्म से भगवद्विभूति और माहात्म्य को समझता है और जो एकरस एवं सरल रह कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है, वह सच्चा वैष्णव है।

शिव कल्याणस्वरूप को कहते हैं। जो भगवान् को मंगलस्वरूप

जानता हुआ सबके कल्याण के लिए सचेष्ट रहता है, कभी किसी का अकल्याण नहीं चाहता, वह सच्चा शैव है।

शक्ति भगवन्माया को कहते हैं। कोई कोई उसे प्रकृति भी कहते हैं। उसकी विशालता और सौन्दर्य से विस्मित एवं मुग्ध होकर उसके स्वामी की सराहना करता हुआ जो प्रकृति के नियमों का यथा-वत् पालन करता है, अर्थात् खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, फिरना, शौचादि व्यवहार ठीक-ठीक अपने-अपने समय पर करता है तथा प्रकृति के नियमों के अनुपालन से सुख प्राप्त करता हुआ, यथा शीतकाल में गर्म वस्त्र धारण करता हुआ वा उष्णकाल में चंदनादि का विलेपन और शीतल वायु का सेवन करता हुआ, उचित रीति से निर्वाह करता है, वह सच्चा शाक्त है।

वैष्णव सम्प्रदाय में उपासना की तीन पद्धतियाँ हैं: (१) अचेतन-विशिष्ट ब्रह्मोपासना, (२) चेतनविशिष्ट ब्रह्मोपासना, तथा (३) केवल कल्याणविशिष्ट ब्रह्मोपासना। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रपंच की सृष्टि करके तथा उसके भीतर अनुप्रविष्ट होकर भगवान् स्वयं 'चेतनाचेतन' होगए हैं। यह समानाधिकरण्य शरीर-शरीरी-भाव निबंधन है। इसमें अचेतनविशिष्टता परमात्मा में प्रतिपादित है। इसकी उपासना करने वाले को उपासना के अनुसार फल-दशा में अचेतन ही भोग्य होता है। स्वर्गादि लोकों में जड़ पदार्थों के भोग (यथा रंभादि के शरीर) इसी के फलस्वरूप हैं। जो परमात्मा में प्रतिपादित चेतनविशिष्टता की उपासना करते हैं उनको उपासना-नुसार फलदशा में चेतन ही भोग्य होता है। यह आत्मप्राप्ति काम अर्थात् केवल की उपासना है। "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म, आनन्दोब्रह्म" आदि वाक्यों से भगवान् में सत्यादि गुण प्रतिपादित हैं। जो कल्याण-गुणविशिष्टता की उपासना करते हैं उनको उपासना के अनुसार फलदशा में भी भगवद्गुण ही अनुभव में आते हैं। यह उनकी उपा-सना है जो ब्रह्मप्राप्तिकाम हैं।

अध्याय ३

देखते हैं कि सुवर्ण की परीक्षा के लिए कसौटी की आवश्यकता होती है। कसौटी पर रेखा खींच कर देखने से विदित होजाता है कि सुवर्ण उत्तम है, वा निकृष्ट। इसमें जैसे प्रमेय वस्तु सुवर्ण के लिए निकष-रेखा प्रमाण होती है, वैसे ही समस्त अस्तित्व-व्यवहार के लिए निकषवत् प्रमाण मुख्यतया तीन हैं। इनमें से एक या अधिक की साक्षी होने पर ही बात ठीक समझनी चाहिए। वे तीन प्रमाण हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, और (३) शब्द। प्रत्यक्ष (प्रति = सामने + अक्ष = इन्द्रिय) का अर्थ इन्द्रियों के सामने होता है। इन्द्रिय-संनिकर्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। आकाश के शब्दगुण द्वारा कान से, वायु के स्पर्शगुण द्वारा त्वचा से, तेज के रूपगुण द्वारा नेत्र से, जल के रसगुण द्वारा जिह्वा से वा पृथ्वी के गंधगुण द्वारा नासिका से प्रत्यक्ष होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहेंगे। इस ज्ञान में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण होता है। दूसरा प्रमाण 'अनुमान' है जो नित्य-संबंध ज्ञान से होता है जैसे, जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी। इस नित्य-संबंध-ज्ञान के रहते हुए पर्वत में चाहे अग्नि भले ही न दीखे, धुआँ दीखने मात्र स कह दिया जा सकता है कि पर्वत में अग्नि है। ऐसा कहना असत्य नहीं है। तीसरा 'शब्द' प्रमाण है। यह आप्त वाक्य होता है, कहा हुआ हो चाहे लिखा हुआ। उसमें पूरी-पूरी विश्वासयोग्यता होने से उसकी सच्चाई पर संदेह नहीं हो सकता।

पदार्थ-विभाग

इन तीनों प्रमाणों के प्रमेय दो हैं—एक द्रव्य, दूसरा अद्रव्य। अद्रव्य दस गुणवाला है। वे गुण ये हैं—(१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप (४) रस, (५) गंध, (६) सत्व, (७) रज, (८) तम, (९) संयोग, और (१०) शक्ति

इनमें प्रथम पाँच गुण तो 'प्रत्यक्ष' प्रमाण की व्याख्या में कही हुई बातों से ही अवगत होगए थे कि पाँच भूतों के पाँच गुण हैं। सत्त्व, रज, और तम ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। सत्त्व गुण निर्मल एवं प्रकाशक है। यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान कराता है और शांति प्रदान कराता है। इस गुण की वृद्धि की दशा में मृत्यु होने से जीव को उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। रजोगुण तृष्णा, स्त्री, धनादि में आसक्ति कराता है, विषयों में प्रीति और चंचलता उत्पन्न करता है। इस गुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर कर्म-संगियों में जन्म मिलता है। तमोगुण से मोह की सृष्टि, ज्ञान का आवरण और विवेक की हानि होती है। वह अज्ञान का कारण होकर विपरीत ज्ञान और निरुद्यमता का विस्तार करता है और जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा में लगा कर उसका बन्धन करता है। इस गुण की वृद्धि की दशा में मृत्यु होने पर जीव मूढ़ योनियों में जन्म लेता है।

सत्त्व, रज और तम

दो द्रव्यों के पारस्परिक सम्बन्धभूत गुण को संयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—पृथक्सिद्ध संयोग और अपृथक्सिद्ध संयोग। हस्तपुस्तक संयोग प्रथम प्रकार का उदाहरण है और शरीरात्मा का संयोग दूसरे प्रकार का उदाहरण है।

संयोग और शक्ति

एक एक वस्तु में एक एक शक्ति रहती है जैसे, अग्नि में जलाने की और वायु में सुखाने की शक्ति रहती है। तत्तत्कार्योत्पादन में अनुकूल एक-एक शक्ति कारण में मानी जाती है, जैसे बीज में अंकुर-शक्ति। यह दस गुणों का व्यवहार है। इसकी अद्रव्य संज्ञा है। जड और अजड, ये दोनों द्रव्य हैं। जड के दो भेद हैं—प्रकृति और काल। प्रकृति के चौबीस रूप माने जाते हैं: प्रकृति, महत्, अहंकार (जो तामस, राजस और सात्त्विक रूपों में त्रिविध हैं), ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,

द्रव्य

पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक अन्तःकरण, जिनकी सात्विक अहंकार से उत्पत्ति है), पंच भूत और उनकी पंच-तन्मात्राएँ।†

वर्णमाला में 'मकार' पच्चीसवाँ अक्षर है। शास्त्रीय व्याख्याओं में मकार का अर्थ जीव बतलाया जाता है। जिस प्रकार 'म' चौबीस अक्षरों का पश्चात्वर्ती है उसी प्रकार माया के चौबीस रूपों के आगे पच्चीसवाँ स्वरूप जीव का है। जितने समय तक माया के सब स्वरूपों की साम्यावस्था रहती है, उतने समय का नाम प्रलय काल है। जब नियमानुसार उन्हीं स्वरूपों की विषमावस्था होती है, तब सृष्टि हो जाती है। जब प्रकृति साम्यावस्था से वैषम्य की ओर आने लगती है तो उसकी प्रथम अवस्था की महत्' संज्ञा है और जितने समय तक वैषम्यावस्था रहती है उसको सृष्टिकाल कहते हैं। सृष्टि और प्रलय का क्रम-चक्र अनादिकाल से चलता चला आरहा है।

त्रिविध अहंकार के बीच में जो राजसांश है, वह सात्त्विक और तामस के स्व-स्व कार्योत्पादन में सहकारी माना जाता है। अद्रव्य के वर्णन में आए हुए दस गुणों के अन्तर्गत जिन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का उल्लेख किया गया है, उन्हें पंचभूतों के साथ वर्णित पंचतन्मात्रा—शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, तथा गंध तन्मात्रा—से अभिन्न वा अपृथक् न समझ लेना चाहिए। वे तो अद्रव्य के भेद में गुण थे और ये तन्मात्राएँ प्रकृतिरूप जड़ द्रव्य के चौबीस रूपों के अन्तर्गत हैं तथा तत्तद्भूतों की सूक्ष्मावस्था हैं। द्रव्य होने से पंच तन्मात्रा और पंचभूत मिलाकर चौबीस की गणना में दस कहे गये हैं।

जड़ माया का यह स्वरूप बंधनरूप है। असंख्य जीव इसमें लिपटे रहते हैं, जीते-मरते जन्म-मरण चक्र में घूमते रहते हैं।

---

† शब्द तन्मात्रा, उससे आकाश; आकाश से स्पर्श तन्मात्रा, उससे वायु; वायु से रूप तन्मात्रा, उससे तेज; तेज से रस तन्मात्रा, उससे जल; और जल से गन्ध तन्मात्रा, उससे पृथिवी। तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रा होकर, इन दशों की उत्पत्ति मानी जाती है।

इस मार्ग में सुखों के साथ दुःखों की भीड़ लगी रहती है। इस चक्र में कई जीव सुखी भी रहते हैं, शेष आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नामक तापत्रय में फँसे रहते हैं।

तापत्रय

मन में अनेक प्रकार की चिन्ताओं और दुर्बलताओं के आजाने तथा अनेक बातों के स्मरण वा प्रत्यक्ष होने से अन्तःकरण जिस क्लेश की अनुभूति करता है, उसे आध्यात्मिक क्लेश कहते हैं। ऐसा क्लेश जिसका उदय किसी आदमी के मारने, कुत्ते, सर्प, बिच्छू आदि के काटने अथवा सिंह, व्याघ्र आदि के खाने से होता है, उसे आधिभौतिक क्लेश कहते हैं। ओलों के प्रहार, बिजली के गिरने, भूकम्प से गिरे हुए मकान के नीचे दबने आदि से उत्पन्न हुए क्लेशों को आधिदैविक कहते हैं।

ये सब कर्म-फल हैं। माया में जीव कर्म करता रहता है और भोगता रहता है, क्योंकि कार्य-कारण का नियम माया-मण्डल में अनादिकाल से चला आरहा है और जीव में अविद्या, कर्म, वासना, रुचि, प्रकृति संबंध—ये पाँच चक्रवत् परिभ्रान्त रहते हैं। इसी चक्र में कोई एक दुःखमय स्थल ऐसा आजाता है जहाँ भगवान् की करुणा† सजग होजाती है। भगवान् की वह कृपा अनिवर्चनीय होती है।

भगवत्करुणा का औचित्य

कुछ लोगों का मत है कि इस प्रकार कृपा और करुणा करना भगवान् के लिए उचित नहीं है, किन्तु भगवान् की ऐसी करुणा में अनौचित्य के लिए कोई अवकाश भी नहीं है। किसी निरपराध को दुःखी करना न्याय विरुद्ध है, कृपा और करुणा करना बुरा नहीं है। दूसरे के ऋण वा बदले से किसी को छुड़ा कर किसी को असन्तुष्ट करना बुरा होता है। भगवान् के पास करुणा का अक्षय भंडार है। वे उसे अपनी इच्छ से सदा लुटाते रहते हैं। इससे उनकी कुछ हानि

---

† एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते

न होकर जीवों का परम कल्याण होता है। सन्दूक में बन्द रहने से रत्नाभूषणों की क्या शोभा और क्या फल? उनकी सार्थकता तो शरीर पर धारण करने में है। इसी प्रकार दया, करुणा, कृपा आदि के प्रयोग और परिचय के बिना भगवान् के दीनबन्धु, करुणानिधान, दयासागर, कृपानिधि आदि नामों में क्या सार्थकता रहे? हम संसारी जीवों को तो भगवान् की करुणा की इतनी बड़ी आवश्यकता है कि इसके बिना अपना बेड़ा पार होना ही कठिन है। इसी का तो हमें बड़ा सहारा है। दैनिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि एक मनुष्य दूसरे को बात की बात में क्षत-विक्षत कर देता है जिसके दण्डस्वरूप वह दसियों वर्ष जेल में पड़ा रहता है। इसीसे हम अनुमान कर सकते हैं कि एक-एक क्षण में हम जो घोर अपराध कर डालते हैं उनका फल अनेक जन्मों तक भोगना पड़ता है। जीव अनादिकाल से माया-बंधन में है। अगणित पाप संकलित होजाने से इसका तो बेड़ा पार होना ही कठिन है। इनसे मुक्ति पाना तो करुणानिधान की दयादृष्टि पर ही निर्भर है। जिस प्रकार जीव की यह योग्यता है कि वह अनेक जन्मों तक दंड भोगने योग्य पापों को थोड़ी-सी देर में कर डालता है, उसी प्रकार परमात्मा की दयालुता की भी ऐसी अमोघ शक्ति है कि उसकी तनिक सी किरण के पड़ जाने से ही जीव के अनेक जन्मों के पाप उसी क्षण नष्ट होजाते हैं। इसीसे यामुनाचार्य स्वामी ने भगवान् के प्रति कहा है—"लाल कमल के समान आपके दोनों चरणों के अनुराग रूपी अमृत-सागर की एक-एक बिन्दु में वह सामर्थ्य है कि ऊँची उठी हुई संसार-दावाग्नि को एक क्षण में बुझा कर वह मोक्ष देदेती है।"[1] "हे भगवन्! अनन्त संसार-समुद्र के बीच में डूबते हुए मुझको चिरकाल के लिए आप किनारे की तरह प्राप्त हुए हैं और साथ ही साथ आपको भी दया टिकाने के लिए अब यह सर्वोत्तम ठिकाना मिल गया है"।[2]

---

१ उदीर्ण संसारदवाशुशुक्षणि क्षणेन निर्वाप्य परांच निर्वृतिं।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणांबुज द्वयानुरागामृतसिन्धुसीकरः ।।

२ निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापिलब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ।।

व आगे फिर कहते हैं ३–(क) "मैं असंख्य अपराधों का भाजन हूँ। भयंकर संसार-समुद्र के बीच में पड़ा हूँ और कुछ भी मेरी गति नहीं है। हे पापों के हरनेवाले, मुझ शरणागत को कृपा करके केवल अपना लीजिए। (ख) हे अच्युत, इस संसार रूपी दुर्दिन में जिसमें अविवेक रूपी बादलों से दिशाओं के मुख अंधे होगए हैं तथा जिसमें अनेक प्रकार से निरन्तर दुःखरूपी वर्षा होती रहती है, मुझ मार्ग-भ्रष्ट की ओर दृक्पात कीजिए। (ग) यह मिथ्या नहीं है, यथार्थ है, अपने आगे मेरी एक प्रार्थना सुनिए। यदि आप मुझ पर दया न करेंगे तो हे नाथ! आपको भी (ऐसा) दयनीय (दयापात्र) न मिलेगा। अतएव आप के बिना मै नाथवान् नहीं हूँ और मेरे बिना आप दयनीयवान् नहीं ह।"

दूसरे श्लोक में अपने को 'अनन्त संसार समुद्र के बीच में डूबता हुआ' कह कर यह दिखलाया गया है कि तटके निकट होने पर कदाचित् तैर कर भी किसी तरह पार होजाता, परन्तु बीचोंबीच में डूबते हुए, सर्वथा निःसहाय के उद्धार का आपकी दया के सिवा और कोई उपाय नहीं है। 'चिरकाल के लिए प्राप्त हुए हैं' से यह अभिप्राय है कि 'शरणागत मैं अब आप को छोड़ूगाँ नहीं'। आप मेरे ऊपर अवश्य ही दया कीजिए। ऐसा दया का पात्र आपको दूसरा न मिलेगा। तीसरे के (क) श्लोक में भगवान् की केवल कृपा' कही गई है, उससे स्पष्टतः यही अभिप्राय है कि भगवत्प्राप्ति के लिए भगवान् की कृपा के अति-

---

३–(क) अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥

(ख) अविवेकघनांधदिङ्मुखे बहुधा संतत दुःखवर्षिणि।
भगवन् भवदुर्दिने पथः स्खलितं मामवलोकयाच्युत॥

(ग) न मृषा परमार्थमेव मे श्रृणु विज्ञापनमेवमग्रतः।
यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः॥

तदहं त्वदृतेन नाथवान्मदृते त्वं दयनीयवान्न च।

रिक्त और कोई उपाय नहीं है। तीसरे के (ख) श्लोक में भगवान् को 'अच्युत' कह कर पुकारा गया है जिसका अर्थ 'अडिग' है क्योंकि 'स्खलित' डिगे हुए, गिरे हुए को वही सँभाल सकता है जो स्वयं अडिग होगा और तीसरे के (ग) श्लोक में स्वामी जी ने भगवान् के प्रति कहा है कि "आपको ऐसा दयनीय मिलना दुर्लभ है"। इससे उन्होंने दैन्यभाव द्वारा अपनी अत्यंत नीचता प्रकट की है क्योंकि अत्यन्त अंधेरे में प्रकाश करने से जैसे दीपक का बड़ा गुण प्रकट होता है, वैसे ही दया की उत्कृष्टता भी घोर पापी के पार लगाने में ही मानी जाती है। इसी कक्षा में स्वामी जी ने अपने को दुर्लभ दयनीय कहा है, नहीं तो भगवान् को क्या दुर्लभ है ?

महात्मालोग सदैव भगवत्कृपा चाहते रहते हैं। मुकुन्दमाला में भी कहा गया है—"हे भगवन् ! हे विष्णो ! हे अनन्त !, हे हरे ! तू प्रसन्न होजा। तू अत्यन्त करुणामय है, इसलिए मुझ अकिंचन पर निश्चय ही अपनी कृपा कर। तू संसार सागर में डूबते हुए दीन का उद्धार करने में समर्थ है। तू पुरुषोत्तम है"। † कृपा की कामना से ही उक्त श्लोक में इतने संबोधन दिये गये हैं। पहले 'भगवन्' कहा है। इससे अभिप्राय है कि आप ऐश्वर्यादि गुणों से सम्पन्न हैं। मैं उनसे विहीन हूँ, इसलिए आप की कृपा से ही काम चलेगा। फिर 'विष्णो' कहा है, इससे अभिप्राय है कि मैं आप से अन्यथा नहीं कह सकता हूँ। आप सर्वव्यापी होने से घट-घट की जानते हैं। आपके आगे कपट नहीं चलेगा। फिर 'अनन्त' कह कर यह व्यक्त किया गया है कि मेरे ऊपर कृपा करने से आपकी कृपा के भंडार में कुछ टोटा नहीं आएगा, क्योंकि आप अनन्त हैं। 'हरे' कह कर भगवान् की पापों की हरने की सामर्थ्य की ओर इंगित किया गया है, और भग-

---

† स त्वं प्रसीद भगवन् कुरु मय्यनाथे
विष्णो कृपां परमकारुणिकः खलु त्वम् ।
संसार-सागर-निमग्नमनन्तदीनमुद्धर्तुमर्हसि
हरे पुरुषोत्तमोऽसि ॥

वत्कृपा की कामना की गई है क्योंकि उसके बिना भी काम नहीं चल सकता।

अन्यत्र कहा गया है कि "हे प्रभो, मुझ अंधे का इन्द्रिय नामवाले बलवान चोरों ने विवेक-महाधन हर लिया है और मैं मोहरूपी अंधकूप के गहरे गर्त में पड़ा हुआ हूँ। हे देवेश ! मुझ दीन को करावलम्ब दीजिए।"† यहाँ भगवान् को प्रभो और देवेश इन दो सम्बोधनों से पुकारा गया है। प्रभुता में बलवत्ता और सर्वशक्तिमत्ता का समावेश होने से, एकमात्र प्रभु ही गहरे गर्त में गिरे हुए को सहारा दे सकता है और 'देवेश' से यह ध्वनि निकलती है कि मै ऐसा घोर पापी हूँ जिसका उद्धार देवताओं के भी वश का नहीं है। आप (भगवान्) देवताओं के भी ईश्वर हैं, इसलिए आप सहारा दे सकते हैं।

इन सब उद्धारणों के सहारे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि भगवान् परम कारुणिक हैं और उनकी कृपा-वृष्टि जीवों पर सदैव होती रहती है। यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् कृपा करते ही नहीं हैं तो महात्माओं के ये सब वचन व्यर्थ हो जाएँगे, जीवों का उद्धार का मार्ग रुक जाएगा, और भगवान् का करुणा नामक गुण जो शास्त्रसिद्ध है निष्फल एवं व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। परन्तु भगवान् की परमकारुणिकता से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न अवांछनीय है। परमात्मा के करुणामय होने को अपने पापों के दूर करने की अग्रिम दृढ़ सामग्री मानकर विचारपूर्वक पाप नहीं करते रहना चाहिए, नहीं तो विशेष दुःखी होना होगा। भगवान् स्वतंत्र हैं, कृपा करना उनके हाथ में है, बलात् कृपा करा लेना जीव के वश की बात नहीं है। जीवों को तो यही उचित है कि अपने स्वरूपानुरूप ही व्यवहार करते रहें क्योंकि माया का बंधन बड़ा विकट है।

---

† अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य।
चौरैः प्रभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः-॥
मोहान्धकूपकुहरे विनिपातितस्य।
देवेश देहि कृपणस्य करावलम्बम्॥

रिक्त और कोई उपाय नहीं है। तीसरे के (ख) श्लोक में भगवान् को 'अच्युत' कह कर पुकारा गया है जिसका अर्थ 'अडिग' है क्योंकि 'स्खलित' डिगे हुए, गिरे हुए को वही सँभाल सकता है जो स्वयं अडिग होगा और तीसरे के (ग) श्लोक में स्वामी जी ने भगवान् के प्रति कहा है कि "आपको ऐसा दयनीय मिलना दुर्लभ है"। इससे उन्होंने दैन्यभाव द्वारा अपनी अत्यंत नीचता प्रकट की है क्योंकि अत्यन्त अंधेरे में प्रकाश करने से जैसे दीपक का बड़ा गुण प्रकट होता है, वैसे ही दया की उत्कृष्टता भी घोर पापी के पार लगाने में ही मानी जाती है। इसी कक्षा में स्वामी जी ने अपने को दुर्लभ दयनीय कहा है, नहीं तो भगवान् को क्या दुर्लभ है ?

महात्मा लोग सदैव भगवत्कृपा चाहते रहते हैं। मुकुन्दमाला में भी कहा गया है—"हे भगवन् ! हे विष्णो ! हे अनन्त !, हे हरे ! तू प्रसन्न होजा। तू अत्यन्त करुणामय है, इसलिए मुझ अकिंचन पर निश्चय ही अपनी कृपा कर। तू संसार सागर में डूबते हुए दीन का उद्धार करने में समर्थ है। तू पुरुषोत्तम है"।† कृपा की कामना से ही उक्त श्लोक में इतने संबोधन दिये गये हैं। पहले 'भगवन्' कहा है। इससे अभिप्राय है कि आप ऐश्वर्यादि गुणों से सम्पन्न हैं। मैं उनसे विहीन हूँ, इसलिए आप की कृपा से ही काम चलेगा। फिर 'विष्णो' कहा है, इससे अभिप्राय है कि मैं आप से अन्यथा नहीं कह सकता हूँ। आप सर्वव्यापी होने से घट-घट की जानते हैं। आपके आगे कपट नहीं चलेगा। फिर 'अनन्त' कह कर यह व्यक्त किया गया है कि मेरे ऊपर कृपा करने से आपकी कृपा के भंडार में कुछ टोटा नहीं आएगा, क्योंकि आप अनन्त हैं। 'हरे' कह कर भगवान् की पापों की हरने की सामर्थ्य की ओर इंगित किया गया है, और भग-

---

† स त्वं प्रसीद भगवन् कुरु मय्यनाथे
विष्णो कृपां परमकारुणिकः खलु त्वम्।
संसार-सागर-निमग्नमनन्तदीनमुद्धर्तुमर्हसि
हरे पुरुषोत्तमोऽसि ॥

वत्कृपा की कामना की गई है क्योंकि उसके बिना भी काम नहीं चल सकता।

अन्यत्र कहा गया है कि "हे प्रभो, मुझ अंधे का इन्द्रिय नामवाले बलवान चोरों ने विवेक-महाधन हर लिया है और मैं मोहरूपी अंध-कूप के गहरे गर्त में पड़ा हुआ हूँ। हे देवेश ! मुझ दीन को करावलम्ब दीजिए।"† यहाँ भगवान् को प्रभो और देवेश इन दो सम्बोधनों से पुकारा गया है। प्रभुता में बलवत्ता और सर्वशक्तिमत्ता का समावेश होने से, एकमात्र प्रभु ही गहरे गर्त में गिरे हुए को सहारा दे सकता है और 'देवेश' से यह ध्वनि निकलती है कि मैं ऐसा घोर पापी हूँ जिसका उद्धार देवताओं के भी वश का नहीं है। आप (भगवान्) देवताओं के भी ईश्वर हैं, इसलिए आप सहारा दे सकते हैं।

इन सब उद्धारणों के सहारे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि भगवान् परम कारुणिक हैं और उनकी कृपा-वृष्टि जीवों पर सदैव होती रहती है। यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् कृपा करते ही नहीं हैं तो महात्माओं के ये सब वचन व्यर्थ हो जाएँगे, जीवों का उद्धार का मार्ग रुक जाएगा, और भगवान् का करुणा नामक गुण जो शास्त्रसिद्ध है निष्फल एवं व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। परन्तु भगवान् की परमकारुणिकता से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न अवांछनीय है। परमात्मा के करुणामय होने को अपने पापों के दूर करने की अग्रिम दृढ़ सामग्री मानकर विचारपूर्वक पाप नहीं करते रहना चाहिए, नहीं तो विशेष दुःखी होना होगा। भगवान् स्वतंत्र हैं, कृपा करना उनके हाथ में है, बलात् कृपा करा लेना जीव के वश की बात नहीं है। जीवों को तो यही उचित है कि अपने स्वरूपानुरूप ही व्यवहार करते रहें क्योंकि माया का बंधन बड़ा विकट है।

---

† **अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य।**
चौरैः प्रभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः।।
मोहान्धकूपकुहरे विनिपातितस्य।
देवेश देहि कृपणस्य करावलम्बम्।।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि स्वरूप-व्यवहार का ज्ञान न होने पर उसका आचरण कैसे हो सकता है। मनुष्य निष्क्रिय तो रह नहीं सकता, कुछ न कुछ करता ही रहता है। उसकी क्रियाएँ सविशेष होती हैं। उनसे वह अपनी संसारी आशाएँ पूरी होना समझता है—उनसे ऐसी आशाओं की सिद्धि की कामना करता है जो अपार हैं:—

स्वरूपानुरूप व्यवहार

निस्वो वष्टि शतंशती पश शतं लक्षं सहस्राधिपे ।
लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपति श्चक्रेशतां वांछति ।।
चक्रेशस्सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति ।
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं तृष्णावधिं को गतः ।।

यह संभव नहीं है कि जीव इन सब सीढ़ियों को इसी जीवन में पूरी करले। कर्म-शिथिल रहना मृतक तुल्य होजाना है और संसारी आशाओं के लिए कर्म करते रहना माया के बंधन में वृद्धि करना है। फिर काम कैसे चले और मनुष्य क्या करे?

वस्तुस्थिति तो यह है कि "जो आशा के दास हैं वे सब लोक के दास हैं। और आशा जिनकी दासी है उनके दास सब लोक हैं।"† ये आशाए स्वार्थबुद्धि से होती हैं। वह स्वार्थ काया में आत्मबुद्धि रखने से आता है। काया (शरीर) में आत्मबुद्धि अविवेक से होती है। इसलिए विवेक की आवश्यकता है। संसार-सागर से पार होने की इच्छावालों को विवेक से आचरण करना चाहिए। "कुए में पड़ा हुआ पशु भी निकलने के लिए पैर हिलाता है। हे चित्त तुझको धिक्कार है कि संसार-समुद्र में से निकलने की इच्छा भी नहीं करता।"‡ अभि-प्राय यह है कि यदि संसार-समुद्र से निकलने की इच्छा हो तो विवेक पूर्वक चलना चाहिए। संसारी अभिलाषाओं के लिए काम करना

---

† **आशायाः ये दासा ते दासा सर्वलोकस्य ।**
आशा दासी येषां तेषां दासीयते लोकः ।।

‡ **पतितः पशुरपि कूपे निःसतुं चरणचालनं कुरुते ।**
धिक् त्वां चित्त भवाब्धेरिच्छामपि नो विभर्षि निःसतुं ।।

बंधन है। यह देखा जारहा है कि अज्ञान में आवृत और स्वार्थ में लिप्त तथा प्रकृति के नियमों के दास बने हुए मनुष्य इधर से उधर और उधर से इधर कैसे टकराते फिरते हैं ! वे वक्रता को अच्छा और सर-लता को बुरा समझते हैं। जो दोहा तुलसीदास का नहीं है उस पर उनकी छाप लगा कर इस प्रकार पढ़ देते हैं—

तुलसी या संसार में पाखंडी का मान।
सीधे को सीधा नहीं, टेढ़े को पकवान ॥

यह अनुचित है। लोग कहते हैं कि फ़ारसी में 'वाव' का आकार वक्र है, इसलिए वह अक्षर खून के बीच में रहता है और अलिफ का आकार सीधा होने से वह जान के बीच में रहता है। टेढा मार्ग लोग इसलिए लेते हैं कि उसके द्वारा वे अनेक कठिनाइयों से बच जाएँ। यह नहीं सोचते कि टेढ़े मार्ग से उनका मार्ग खो जायगा और अधिक क्लेश होगा।

कहा जाता है कि झूठ कई जगह चल जाता है, परन्तु इसमें मुख्यता झूठ के स्वरूप की नहीं है। यदि वह अपने स्वरूप में आए तो उसका कोई भी सत्कार नहीं करेगा। उसका मान भी तभी होता है जब वह साँच के कपड़े पहन कर आता है। वे कपड़े ही उसकी स्वीकृति का कारण बनते हैं। इसमें महत्व साँच (सत्य) का ही है। ठग अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए साहूकारों का वेश धारण करते हैं, इससे स्पष्ट है कि साहूकारों में कुछ वास्तविक महिमा है। अत-एव यह सिद्ध है कि पात्र-भेद होने पर भी प्रतिष्ठा बस गुण ही की है। जीव का गुण सरलता है। सरलता में आनन्द और वक्रता में दुःख संनिहित रहता है। यह जगत् जीवों की परीक्षास्थली है। जिस प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बिना छात्र उच्च कक्षा में नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार जीव भी इस जगत् की परीक्षा को पास किये बिना ऊँचा नहीं चढ़ सकता—इस भ्रान्तिमय जगत् से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। परीक्षा पास करने में कठिनाई अवश्य होती है, किन्तु वह अवसर धन्य है जो परीक्षोत्तीर्ण होने के निमित्त मिलता

है। इसकी योग्यता तो इस मनुष्य-जीवन में ही है। इसको वृथा खोकर असफल होजाने में क्या महत्व होगा? यह बड़े भाग्य से मिलता है।

इसको चार विभागों में व्यतीत करना अच्छा है। पहले विभाग में माता-पिता और गुरु में भक्ति रखते हुए तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मर्यादापूर्वक विद्याध्ययन करना चाहिए। दूसरे विभाग में पत्नीव्रत रख कर सन्तानोत्पत्ति करना, न्यायपूर्वक धनार्जन करते हुए उसे सन्मार्ग में व्यय करना और विनयान्वित तथा सदाचाररत रह कर अतिथिसत्कार करते हुए कर्तव्यरत रहना चाहिए। तीसरे विभाग में शनैः शनैः भागवतों के संग में पहुँच कर उनका उनके कैंकर्य, उपदेश तथा संग से ऐसा अभ्यास बढ़ाना चाहिए जिससे स्वरूप, पर-रूप, विरोधी-रूप, उपायरूप और फलरूप का बोध होकर उत्कृष्टता संपादित हो और संसार के लोभ, मोहादिक कम होकर भगवत्, भागवत और आचार्य की ओर अनुराग-वृद्धि हो, तथा चौथे विभाग में काम-कांचन से अलग रह कर एकान्ती तथा परम एकान्ती निष्ठा धारण कर लेनी चाहिए।

व्यवहार-क्षेत्र में कर्म-परंपरा

कर्म तीन प्रकार के होते हैं: संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जन्मान्तर में किये हुए कर्म जिनके फलों का भोगना शेष है, उन एकत्रित कर्मों को संचित कर्म कहते हैं। आगे भोगने के लिए जो कर्म किए जाते हैं उन्हे क्रियमाण कर्म कहते हैं, और संचित कर्मों से छूट कर जिन कर्मों का इस जन्म में भोगने के लिए प्रारंभ होगया है, उनको प्रारब्ध कहते हैं।

लोगों को कहते हुए सुना है कि स्टेशन से रेलगाड़ी छूट गई। इसका अर्थ यह है कि अगले स्टेशन पर पहुँचने से पहले वह बीच में कहीं नहीं ठहरेगी। इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म को भी समझिए। जिसका प्रारंभ होगया है, वह प्रारब्ध कहलाता है और वह अवश्य भोगना पड़ता है। 'प्र' पूर्वक 'आरंभ' से प्रारंभ शब्द बनता है। जिसका

प्रारंभ प्रकृष्ट रूप से हुआ है वह प्रारब्ध होता है। भला, वह कैसे टल सकता है?

इन तीनों कर्मों का भुगतान रीतिपूर्वक होना चाहिए। संचित कर्म चाहे पर्वत के समान ही बड़े क्यों न हों, ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानाग्नि में दग्ध होजाते हैं। प्रारब्ध कर्म इस वर्तमान शरीर के रहने तक रहते हैं। क्रियमाण कर्मों के करने में स्वार्थ-बुद्धि नहीं रहनी चाहिए। संसारी अभिलाषाओं के लिए कर्म करना बंधन होता है, नहीं तो बंधन का काम ही क्या? किसी संसारी फल की इच्छा करने पर ही तो उस फल की प्राप्ति के लिए अथवा उस आकांक्षा के संबंध से किसी प्रकार फिर जन्म लेना पड़ता है। जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमलपत्र जल से निर्लिप्त रहता है, उस पर ज़ल नहीं लगता, उसी प्रकार निःस्वार्थ कर्म करनेवाले लोग संसार में रहते हुए भी बंधन में नहीं पड़ते। यह मनुष्य-शरीर धन्य है, किन्तु इसका सदुपयोग न करना बड़ी भूल है।

यहाँ यह प्रष्टव्य है कि यदि सभी कर्म बंधन का कारण बनते हैं तो क्या किसी की सहायता जैसा कर्म भी वर्जित है? सहायता वर्जित नहीं है, अवश्य करनी चाहिए, किन्तु मन और शरीर को काम करने दो, बदला मत चाहो। यदि उपकार का बदला चाहने पर भी इस जन्म में न मिला तो उपकार-कर्म का फल भोगने के लिए इस संसार में फिर जन्म होना चाहिए, मोक्ष नहीं होना चाहिए। इसीलिए किसी महात्मा ने ठीक ही कहा है कि—किसी के साथ की हुई अपनी भलाई तथा अपने साथ की हुई किसी की बुराई, इन दो बातों को भुला देना ही उत्तम है। यदि उपकृत व्यक्ति कृतघ्नी है तो उसके व्यवहार से अपने किए हुए को न भूलने की दशा में उपकारी को दुःख ही होगा। इसी प्रकार दूसरे के द्वारा की हुई बुराई के स्मरण से भी चित्त को खेद ही होगा। अतएव जगत् के चार प्रकार के लोगों के साथ तत्तदनुरूप व्यवहार करना चाहिए। बड़े के साथ यह समझ कर कि यह हमसे बड़ा है, अच्छा है, बड़े हर्ष की बात है कि समय पर छोटों को सहायता

दे सकता है, मुदता (प्रसन्नता) का आचरण करना चाहिए। मुदता के अभ्यास से ईर्ष्या निर्मूल होजाती है। मानलो कि कोई पुरुष घोड़े पर चढ़ा जारहा है। यद्यपि उसने दूसरे पैदल जानेवाले का कुछ भी अनिष्ट नहीं किया, फिरभी पैदल की यह कुबुद्धि जागृत होजाती है कि यह चढ़ा क्यों जाता है? क्या अच्छा हो कि यह गिर पड़े वा इसकी टाँग पकड़ कर नीचे पटक दिया जाय! विचारने की बात है कि उसके घोड़े से गिर पड़ने से पैदल व्यक्ति को कुछ सुख नहीं मिलता, तोभी वह इसमें वृथा ही कुछ सुख-सा मानता है और कुबुद्धि को सरसित होने देता है। इस रोग की औषधि मुदता है। २. बराबर वालों के साथ 'मैत्री' का व्यवहार करना चाहिए। मैत्री एक ऐसा भाव है कि वह जिसके प्रति बन जाता है उसके दोषों को ढकने और गुणों को प्रकट करने में उत्साह होता है। इस भाव से छिद्रान्वेषण एवं दोषदर्शन का उन्मूलन होता है। ३. छोटों के प्रति सकरुण व्यवहार करना चाहिए। इससे जिनको आप से सहायता पहुँच सकती है, पहुँचेगी। ४. दुष्टों के साथ 'उपेक्षा' भाव रखना ही समीचीन होता है। दुष्टों से अलग्न रहना, कुछ प्रयोजन न रखना ही कल्याणकर आचरण है। इस प्रकार मुदता, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा, ये चार प्रकार के व्यवहार चार प्रकार के मनुष्यों के साथ सदैव आचरणीय है।

दुष्टों से प्रयोजन न रखने से निन्दा का पात्र न बनना पड़ेगा। उनकी निन्दा या बुराई करने से, जो समय सत्कर्म में लग सकता है, वह व्यर्थ जायगा। कहना न होगा कि भलों का बोध कराने में बुरे लोग साधन बनते हैं। स्वास्थ्य का मूल्यांकन रोग के कारण होता है। प्रकाश की महिमा अहंकार के सम्बन्ध से भासित होती है। द्वन्द्वात्मक विपर्यय न रहने से सद्वस्तु अपना गौरव प्रकाशित न कर पाती। इसी प्रकार अभद्र भी भद्रजनों के प्रकाश की प्रतीति कराते हैं। परन्तु दुष्ट लोगों से दूर रहना ही अच्छा है, क्योंकि पास रहने से दुर्गुण आएँगे, चित्त मलीन वा दुःखी होगा। काजल की कोठरी में चाहे कैसा ही चतुर प्रवेश करे, काजल की एक रेखा तो लग ही

जाती है, इसी प्रकार दु:संगति का कुछ न कुछ बुरा प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। दुष्टों की निन्दा करने से न केवल समय ही व्यर्थ जाता है, अपितु आगे निन्दा का अभ्यास बढ़ता है जो अच्छा नहीं है, अतएव उनसे अलग्न रहना ही ठीक है। दुष्टों की चित्तवृत्ति का हरण करना अति कठिन है। कहा भी है—"दुस्तर सागर के तरने के लिए नौका है, अंधकार होने पर प्रकाश करने के लिए दीपक है, वायु न चलने पर पंखा है, मदान्ध गज के दर्प की उपशान्ति के लिए अंकुश है। इस प्रकार इस पृथ्वी पर ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके संबंध में विधाता ने उपायचिन्ता न की हो, परन्तु मेरे विचार से दुर्जन की चित्तवृत्ति हरण करने के सम्बन्ध में विधाता भी भग्नोद्यम है।"† उत्तम कर्म करने और अध:पतन से बचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य दुर्जनता से बचा रहे, किन्तु इसके लिए उत्तम और अधम का विवेक चाहिए।

विवेक धर्मसाधक है। धर्म के चार लक्षण हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का प्रिय।‡ श्रुति (वेद) सबके ऊपर है। उसके पीछे स्मृति का पद है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रुति और स्मृति दोनों का एक ही मार्ग है, परन्तु श्रुति स्वत: प्रमाण होने से बड़ी चीज है और स्मृति परत: प्रमाण होने से उससे दूसरी श्रेणी पर है। यदि इन दोनों में कहीं विरोध दीखे तो श्रुति-वाक्य को ही अंगीकार करना चाहिए। इन दोनों के पीछे सदाचार है। सदाचार के पथ में उस मर्यादा और परंपरा पर दृष्टि रखनी होती है जिसको महापुरुष पदचिन्ह के रूप में बना गये हैं। इन सब का

---

† पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे।
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः॥
इत्येतद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता।
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः॥

‡ श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥

पता न लगे तो 'स्वात्मप्रिय' के मापदण्ड से अपने व्यवहार तथा आचरण की परीक्षा करनी चाहिये।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि किस महापुरुष के आचरण का अनुकरण किया जाय क्योंकि इस विशाल पुण्यभूमि में पुण्यकर्मा महा पुरुष तो अनेक ही हुए हैं। इस सम्बन्ध में विवेकियों और मनस्वियों का मत है कि महात्मा राम का आचरण ही परम अनुकरणीय है क्योंकि वह सब प्रकार से पूर्ण है। बड़ों ने कहा है—"रामंविद्धि परब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्"। इससे स्पष्ट है कि राम के सिवा किसी अन्य चरित्र में पूर्णता नहीं है। राम महावीर्यवान्, प्रतापवान्, सत्यवादी दृढ़व्रत, समर्थ, विचक्षण, यशस्वी, धर्मरक्षक, ज्ञानसम्पन्न, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञ, सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ, द्युतिमान, धृतिमान्, नीतिमान्, धीर, वीर, गंभीर, सर्वलोकप्रिय, सर्वभूतहित और प्रियदर्शन हैं। उनके चरित्रों के सम्पर्क से मन पावन होता है। मन की पवित्रता ही के लिए लोग रामायण सुनते और पढ़ते हैं क्योंकि उनके निर्मल चरित्र के पढ़ने, सुनने, और मनन करने से सद्‌गुणों का आविर्भाव होता है जिससे परम गति मिलती है। राम के साथ कभी-कभी सीता अथवा भरतादि को रख कर भी उनके भक्त उनका स्तवन करते हैं। कोई कहता है—

"वन्देऽहंरामचन्द्रस्य पादौ प्रणतरक्षकौ।
सीतायाश्च पुनः पादौ सर्वसिद्धिविधायकौ॥"

कोई भक्त लक्ष्मण, सीता और हनुमान को साथ लिए हुए महात्मा राम के स्वरूप की वंदना करते हुए कहता है—

"दक्षिणे लक्ष्मणोयस्य, वामे तु जनकात्मजा।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम्॥"

कोई-कोई महात्मा इस प्रकार केवल एक का ही स्तवन करते हैं—

"नमामि परमात्मनं रामं राजीवलोचनं।
अतसीकुसुमश्यामं रावणान्तकमच्युतम्॥"

कोई-कोई उपासक सारे समाज ही को इस प्रकार प्रणाम करते हैं—

"रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजं ।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥"

कौन भक्त राम के किस रूप की उपासना करता है और क्यों? यह प्रश्न करने की बात नहीं, यह तो अपने-अपने अन्तकरण के भाव की बात है। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये चारों एक ही स्वरूप के चार भेद हैं जो अवध में नित्य विहार करते हैं। कहा भी है—

"चतुर्धा च तनुं कृत्वा देवदेवो हरिः स्वयं ।
अत्रैव रमते नित्यं भ्रातृभिः सह राघवः ॥"

राम से शत्रुघ्न की ओर आइये तो एक से दूसरे में विलक्षणता का साक्षात्कार होगा। श्रीराम कर्तव्यपरायणता में आदर्शरूप हैं। पिता की आज्ञा का पालन, पत्नी, भ्राता और भृत्यों के सार्थ व्यवहार, प्रजापालन, शरणागतरक्षा, स्वजनों और आश्रितों का निर्वाह, उत्तम जनों की रक्षा, सत्सेवकों की ऐश्वर्यवृद्धि, चारों वर्णों का अपने-अपने धर्म और मर्यादा में नियोजन, बनवासी की जीवनचर्या आदि की शिक्षा हमें राम के चरित्र से मिलती है। इसलिए उनको सामान्य धर्म, शुद्धाचार और सत्य की मूर्ति कहते हैं। लक्ष्मण का चरित्र भी अद्‌भुत ही है। उन्होंने बाल्यावस्था से ही श्रीराम का साथ दिया। चौदह वर्ष के बनवास में उनके साथ जाकर बड़े-बड़े विकट कार्यों में भाग लिया, मेघनाद तथा अन्यान्य बड़े-बड़े विकट राक्षसों का वध किया, अत्यन्त प्रेम के साथ श्रीराम का कैंकर्य किया, इस सप्रेम कैंकर्य में भी हठपूर्वक उत्साह रक्खा। यद्यपि कैंकर्य बड़ा कठिन है, किन्तु लक्ष्मण जी इसमें कोई कठिनता प्रतीत नहीं करते थे। वे इसे अपना परम सौभाग्य और सुख मानते थे। लक्ष्मण जी को शेषावतार बताया जाता है। शेष जी के विषय में श्री यामुनाचार्य स्वामी ने लिखा है—हे भगवान्! आपके निवासस्थान, शय्या, आसन, पादुका, अंशुक (वस्त्र) तथा वर्षा एवं

आतप-निवारण होने के हेतु अपने शरीर-भेदों से आपकी शेषता प्राप्त करलेने के कारण लोगों के द्वारा उनको 'शेष' नाम उचित ही दिया गया है।"† श्रीमन्नारायण के कैंकर्य में शेषजी सदैव संलग्न रहते हैं। जब श्रीमन्नारायण कौसल्यानन्दन होकर पधारे तो इस दिव्य मंगल मूर्ति की किंकरता के लिए शेषजी भी सुमित्रानन्दन होकर पधारे। यह व्यवहार स्वरूप के योग्य ही है। जब शेषजी का लक्ष्य भगवत्कैंकर्य ठहरा तो बन्वास के समय शेषावतार लक्ष्मण जी अयोध्या में कैसे ठहरते? आज्ञा देने से आज्ञा का पालन करना और स्वामी को प्रसन्न रखना अधिक कठिन है तथा ज्येष्ठ भ्राता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए—इस संबंध में लक्ष्मण जी के आचरण को आदर्श माना जा सकता है। जिस धर्म का लक्ष्मण जी न पालन किया उसका नाम 'शेषत्व' है।

भरत जी का चरित्र इससे भी विलक्षण है। वे बड़े महात्मा, परम रामभक्त, सकैंकर्य परतंत्रता की सीमा, तथा निर्लोभ एवं निरीह थे। उनको अयोध्या के राज्य-भोग की लिप्सा ने कभी छुआ तक नहीं, क्योंकि राजा होने के योग्य वे राम को ही मानते थे, अपने को नहीं। उनकी माता कैकेयी ने राम को निर्वासित कराया, इससे उनको अमित परिताप हुआ। राम की चरण-पादुका पाकर उन्हें इतना हर्ष हुआ मानों कोई जन्म-दरिद्र सहसा लक्षाधीश बन गया हो। नन्दिग्राम की तपोभूमि में उस परम तपस्वी ने चौदह वर्ष तक उन पादुकाओं के प्रति वही भाव रखते हुए जो राम के प्रति था, राजकाज चलाया। यदि भरत की परतंत्रता इतनी बढ़ी-चढ़ी न होती तो वे अयोध्या का राज्य कभी स्वीकार करने वाले नहीं थे। परतंत्रता की उसी सीमा में उन्हें राम की आज्ञा के उल्लंघन करने का उत्साह न हुआ। उल्लंघन करते भी कैसे वे तो उस कक्षा के भक्तों में से थे जो यह कह

---

† "निवासशय्यासनपादुकांशुको पिधान वर्षातपवारणादिभिः।
शरीरभेदैस्तवशेषतांगतैर्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः॥"

देते हैं—"हे नरकान्तक ! मेरा निवास स्वर्ग में हो, वा पृथ्वी पर हो, और चाहे नरक में ही क्यों न हो, मेरी तो प्रार्थना यही है कि मैं जहाँ भी रहूँ वहाँ अंत तक आपके बुद्धि-अगम चरणारविन्दों का चिन्तन करता रहूँ।"† भरत के धर्म में 'शेषत्व' के अतिरिक्त पारतंत्र्य भी है।

शत्रुघ्न का चरित्र इन सबसे ही विचित्र है। भरत जी भगवद्दास थे, परन्तु शत्रुघ्न भागवत-दास थे। यदि एक भगवान् की सेवा में अति तत्पर थे तो दूसरे भगवान् के दासों की सेवा में अतिपरायण थे। यह भाव बड़ा विलक्षण है। विदुरजी ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है—"जो वासुदेव के भक्त हैं, शान्त एवं तल्लीन हैं, मैं जन्मजन्मान्तर में उनके दास का भी दास हूँ।‡ इसी भाव को कृपाचार्य जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—हे मधुकैटभारे, मेरे जन्म का फल यही है तथा मेरा प्रार्थनीय एवं मेरे प्रति अनुग्रह भी यही है कि हे लोकनाथ ! आप अपने भृत्य के भृत्य के परिचारक के भृत्य के भृत्य के दास के रूप में मेरी याद रक्खें।"¶ शत्रुघ्न उन सेवकों में से हैं जिन्होंने अपने सेवा-भाव को व्यक्त करने की कभी चेष्टा ही नहीं की। उनका यही लक्ष्य रहा कि जैसा भी हो राम का अधिक से अधिक अनुग्रह भरत ही को प्राप्त होता रहे। वे राम के दास श्री भरतजी के दास रहने में ही प्रसन्न हैं। वे जानते थे कि भरत राम की प्रसन्नता को सुरक्षित रख सकते थे तो केवल अयोध्या में सुप्रबन्ध रख कर, प्रजा को सुखी रख कर, रघुकुल की मर्यादाओं को अक्षुण्ण रख कर, राज-नियमों का पालन कर के तथा सब का हित करते रह कर ही। इसके लिए उन्होंने भरत को अपना पूर्ण सहयोग दिया। वे भरत

---

† दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामं ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ।।

‡ वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गतमानसाः ।
तेषां दासस्य दासोऽहमभूवं जन्मजन्मनि ।।

¶ मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे, मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एषएव ।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ।।

की सेवा में निःस्वार्थ भाव से परायण रहे। इस धर्म का नाम भागवत-धर्म है और यह सब से बड़ा है।

अन्यत्र धर्म के चार लक्षणों में 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह कर 'आत्मप्रिय' को भी एक धर्म-लक्षण माना है। यहाँ आत्मप्रिय का तात्पर्य स्वेच्छाचारिता नहीं है। आत्मप्रिय में पशुओं की-सी स्वतंत्रता का समावेश नहीं हो सकता। आत्मप्रिय का अभिप्राय उस आत्म-नियंत्रण से है जो कल्याण का साधक है। जब तुम्हें यह प्रिय है कि तुम्हारी कोई सहायता करे तो तुमको चाहिए कि तुम भी दूसरे की सहायता करो। यदि तुम्हें यह प्रिय है कि भूख लगने पर तुम्हें कोई भोजन दे, तो तुम्हें भी यह चाहिए कि क्षुधार्त पर द्रवित होकर उसे भोजन देना प्रिय समझो और अनुकूलता हो तो दो भी। यदि तुमको यह प्रिय है कि जब कभी तुमसे कोई बोले, मीठा बोले, तो तुमको भी चाहिए कि किसी को कभी कटु न कह कर जब बोलो तो मीठा बोलो। जिस प्रकार तुम किसी से अपना पिटना सहन नहीं कर सकते हो उसी प्रकार यह भी सोच लो कि दूसरे को भी तुमसे पिटना अच्छा नहीं लगता होगा। जब तुम्हारे घर से कोई तुम्हारी चीज़ चुरा लेता है तो तुमको कितना बुरा लगता है? इसी प्रकार यह भी ध्यान रक्खो कि जब किसी की चीज़ तुम चुराओगे तो दूसरे को कितना बुरा लगेगा? अतएव 'आत्मप्रिय' का अभिप्राय यह है कि 'अपने प्रतिकूल का दूसरों के साथ आचरण मत करो।'* सर्वत्र अपनी-सी स्थिति समझ कर आचरण करो। गीता में भी यही कहा गया है—"हे अर्जुन, जो मनुष्य सब को अपना-जैसा देखता है और सुख-दुःख दोनों को समान समझता है वह परम योगी माना जाता है।"† इसी दृष्टि से 'आत्मप्रिय' को धर्म का लक्षण माना है।

---

* 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

† आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन
सुखं वा यदिवा दुःखं स योगी परमो मतः। —गीता ६. ३२

पिछले प्रकरणों में निरूपित कर्म-व्यवस्था और सदाचार से यह सिद्ध हो जाता है कि माया मिथ्या नहीं है। यदि माया मिथ्या हो तो सन्मार्ग-प्रवृत्ति की बातें और उत्तमोत्तम उपदेशों का कोई महत्त्व ही न रहे। विष्णु सहस्र-नाम में भगवान् का एक नाम 'नैकमायः' भी आता है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् अनेक अचिन्तनीय आश्चर्यवती मायाओं का विग्रह है। यह माया शब्द मिथ्यार्थक नहीं है। अनेक सत्यार्थ में माया शब्द का प्रयोग है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरं' इति श्वेताश्वतरोपनिषत् में अनेकार्थक्रियाकारिणी प्रकृति के लिए माया शब्द का प्रयोग हुआ है और मायावपुनं ज्ञानं' इति वैदिक निघंटु में माया शब्द ज्ञान-पर्याय में भी है। वाराह पुराण में—

क्या माया मिथ्या है?

"तेन माया सहस्रं तत् शंवरस्याशुगामिना।
बालस्यरक्षतादेहं एकैकस्येन सूदितं॥"

और—

"मेघोदयस्सागरसन्निवृत्तिरिन्दोविभागस्फुरितानि वायोः
विद्युद्विभंगो गतमुष्णरश्मेः विष्णोर्विचित्रा प्रभवंति माया।"

इस प्रकार महाश्चर्य में माया शब्द का प्रयोग किया गया है।

यह माया अजा है, सत्य है और दुस्तरणीय है। तभी तो भगवान् ने इसके संतरण का विधान कहा है। यदि यह मिथ्या हो तो इसका संतरण कैसा! गीता में भगवान् ने कहा है—'यह अनादि काल से चली आनेवाली गुणमयी माया तरने में बड़ी कठिन है, जो मेरी ही शरण आते हैं वे इस माया को तर जाते हैं।"¶ इससे स्पष्ट है कि माया भगवान् की है और वह उनकी सामर्थ्य के अधीन है, तभी तो वे शरणागतों से माया के बन्धन को हटा देते हैं। शरणागत होने का तात्पर्य ही यह है कि अपने को भग-

¶ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

वान् को समर्पित कर दो । जब आपने आत्म-समर्पण कर दिया तो आप भगवन्निधि बन गये । फिर आपको क्या चिन्ता ? भगवान् अपनी सम्पत्ति की अपने आप रक्षा करेगा । जब तक आप 'ज्ञान को चैतन्य कर के पूर्ण अनन्यता एवं भगवन्निर्भरता के भाव के साथ' 'तवास्मि' कह कर अपने को परमात्मा की निधि नहीं बना देते, तब तक भगवच्चरण आपको आत्मसात् नहीं करते । जब तक जीव भगवान् का नहीं होता तब तक माया पर उसका कोई वश नहीं चलता । वह कितने ही यत्न करे चल नहीं सकते, क्योंकि माया ईश्वर की है; जीव की नहीं । जीव को तो उसने बाँध रक्खा है । जब वह भगवान् का हो जाता है तो वे क्षण भर में अपने कृपा-कटाक्ष से उसे माया-बन्धन से मुक्त कर देते हैं । जो मायापति है, वही शक्तिमान् स्वामी माया का निवारण कर सकता है, किसी दूसरे की शक्ति नहीं । बाजीगर की माया सब दर्शकों को मोहित कर लेती है, परन्तु वह उसके 'जमूरे' को (वह लड़का जो बाजी-गर के साथ रहता है) मोहित नहीं करती ।

निरीह या निष्काम कर्म

जो कर्म सांसारिक अभिलाषाओं को लेकर किए जाते हैं वे बन्धनमात्र होते हैं, किन्तु जिन कर्मों का समर्पण भगवच्चरणों में कर दिया जाता है, जो तदर्थ किये जाते हैं वे मोक्षकारी होते हैं । संसारी लोग तीन कारणों से मर्यादा में रहते हैं:—एक तो उत्तम वस्तु की प्राप्ति की आशा से, दूसरे दण्ड के भय से, तीसरे आशा और भय तीनों से अलग रह कर कर्तव्य-भावना से । इन तीनों के लिए तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है, रोचक, भया-नक और यथार्थ । तीसरी कक्षा के लोग बहुत कम हैं जो 'यथार्थ' के अधिकारी हों और मानव-कर्तव्य पर आरूढ़ हों । वे धीर पुरुष ऐसे होते हैं कि "नीति-निपुण पुरुष उनकी निन्दा करे, चाहे स्तुति करे, द्रव्य आए चाहे जाए, मृत्यु आज आए चाहे दूसरे युग

में, वे (धीर पुरुष) न्याय-मार्ग से एक पद भी विचलित नहीं होते।"† ऐसे उत्तम कक्षा के पुरुषों की भी तीन सरणियाँ हैं: एक तो वे हैं जो किसी के साथ भलाई करने में उस कर्तव्यपरायणता का भाव रखते हैं जो ऋण चुकानेवाले के अन्तःकरण में होता है मानों भलाई करने का उन पर कोई बोझ है और यह आकांक्षा नहीं है कि उन्हें भलाई का कुछ और अच्छा बदला मिले। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि ऋण चुकानेवाला अपना बोझ उतारा करता है। वह जिसके साथ भलाई करता है उसे ऋणी करना नहीं चाहता। वह अपनी भलाई का बदला नहीं चाहता। दूसरे लोग इससे भी ऊँची कक्षा के हैं। जिनकी उपकार के प्रति रति होती है, बोझ के स्थान पर उनके हृदय में उत्साह होता है। इसलिए उनको अपना काम सरलतर भी प्रतीत होता है। तीसरे सर्वोत्तम कक्षा के लोग हैं जिनको न कर्तृत्व-अभिमान है और न फलाकांक्षा ही है। वे जो कुछ करते हैं भगवदर्थ समझते हैं। अपना विशेष प्रयोजन नहीं मानते। कर्म के 'कृष्णार्पण' का यही अर्थ है। कैंकर्यभाव के उपासक अपने जीवन को ऐसा मानते हैं कि उसमें जितने व्यवहार हैं, भगवत्कैंकर्य के अर्थ हैं।

लंका का राज्य देने के पश्चात् इक्ष्वाकु-कुल दैवत श्री रंगनाथ की मूर्ति देते हुए (जिसकी प्रतिष्ठा कावेरी के तट पर की गई थी) श्री राम ने विभीषण को यह आज्ञा दी थी:—तू मेरी दी हुई लंका में जा और अकण्टक राज्य-भोग कर। मेरे लिए मेरा अनुस्मरण करता हुआ धर्म से राज्य कर। तू और तेरे (लोग) इस देश में न आना। तू केवल मेरा ही स्मरण कर और मैं तेरा स्मरण करता हूँ। मोक्ष के उपाय और मेरे रहस्य को भी सुन। सब कर्मों और सब कर्म-फलों को छोड़ कर सब बन्धनों से विमुक्त होने के

† निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी समा विशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्यायात्पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

लिए मेरी शरण में आ।"†

यहाँ 'मेरे लिए मेरा अनुस्मण करता हुआ राज्य कर' इस वाक्य से कर्मावलम्बन निर्दिष्ट है, कर्म-त्याग नहीं। फिर 'सब कर्मों और सब कर्म-फलों को छोड़'—इस वाक्य से विरोध-सा दीखता है। 'इस देश में न आना' कह कर 'मेरी शरण में आ', इन दो वाक्यों में भी विरोध परिलक्षित होता है। ध्यानपूर्वक देखने से इन वाक्यों में विरोध नहीं मिलता। अन्तिम वाक्य में जहाँ 'कर्मों और कर्म-फलों को छोड़ कर मेरी शरण में आ', यह आज्ञा दी है, वहीं यह भी कहा है कि 'यह मेरा रहस्य है'। सब जानते हैं कि 'रहस्य' का अर्थ 'गुप्त बात' है। वही भगवद्भेद है। भगवान् जिसे अपना गुप्त भेद कहें, उसमें विरोध कभी नहीं आ सकता। हाँ, विषय सूक्ष्म होने से इसे सूक्ष्म बुद्धि से ही समझना चाहिए। कर्म को छोड़ने से अभिप्राय चेष्टा-शून्य होने का होता तो 'ऐसा करो, वैसा करो' इस आदेश को वे कभी न देते; सब आज्ञाएँ निष्फल हो जातीं। कर्म छोड़ने से यही अभिप्राय समझना चाहिए कि जो तुम इस भाव को अन्त:करण में पकड़े रक्खोगे कि कर्मों को तुम अपने निमित्त करते हो, तो शरण में आने की योग्यता नहीं रहेगी और शरण में आए बिना मोक्ष नहीं होगा। अतएव इस भाव को और कर्म-फलों को छोड़ कर मेरी शरण में आओ, तब सब बन्धन छूट जाएँगे—यह आदेश है। यहीं 'राज्य-कर', केवल इतना ही आदेश नहीं है, यह भी है कि 'मेरे लिए मुझे अनुस्मरण करता हुआ राज्य कर'। भगव-

---

† "गच्छ लंकां मया दत्तां भुंक्ष्व राज्यमकण्टकम्।
राज्यं कुरुष्व धर्मेण मदर्थं मामनुस्मरन्॥
मा भवान्मा त्वदीयाश्च देशमेतं व्रजन्तु वै।
मामेवानुस्मरन् सदा त्वामहं संस्मरामि च॥
उपायमपवर्गश्च रहस्यमपि मे शृणु।
सर्वकर्माणि संत्यज्य सर्वकर्मफलानि च।
शरणं मां प्रपद्यस्व सर्व-बंध-विमुक्तये॥

त्कैंकर्य तो जीव का स्वरूप ही है; यह नहीं छूटना चाहिए। हाँ, यह समझ कर कि अन्तर्यामी भीतर निवास करता हुआ यमन कर रहा है, कर्तृत्वाभिमान को उत्तेजित मत करो, नहीं तो 'अहंकार-विमूढात्मा' कहलाओगे, क्योंकि अचित् और चित्——माया और जीव—— दोनों परमात्मा के शरीर हैं। इन दोनों से विशिष्ट मुख्य शरीरी तो अन्तर्यामी भगवान् ही हैं; परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कर्म का अधिकार तुम से छीन लिया गया है। 'तुम्हारा कर्म करने में तो अधिकार है, फल-प्राप्ति में नहीं है।'§ गीता में अन्यत्र भगवान् ने स्पष्टतः आदेश किया है कि हे अर्जुन! 'तू जो करता है, जो खाता है, जो होम करता है, जो देता है, जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर दे।'¶ ध्यान देने की बात है कि जब 'तू करता है' और 'कर' कहा गया है, तो करने का अधिकार दूर कहाँ किया गया है। हाँ, 'मदर्पण' से यह अभिप्राय है कि सब कुछ करते हुए भी यह बुद्धि स्थिर रखनी चाहिए कि इस चेतन से कर्म-प्रवृत्ति-रूप जो-जो व्यापार होते हैं वे भगवदधिष्ठान बिना नहीं होते, क्योंकि यह जीव उस परमात्मा का शरीर होने से धार्य और नियाम्य है। इसमें किसी भी व्यापार की योग्यता उस परमात्मा (शरीरी) के बिना, जो धारक और नियामक है, स्वतः नहीं हो सकती है। परमात्मा शेषी है और यह जीव शेष है। इसमें परिणाम-शक्ति तथा व्यापार-शक्ति उस अन्तर्यामी के अधिष्ठान बिना स्वतः नहीं है। प्रमुखता उसके अधिष्ठान को ही मिली है। दास होने से करना, खाना, होम करना, देना, तप करना, आदि जीव के सब व्यापार उस स्वामी के अर्थ हैं, स्वार्थ नहीं हैं। शेष का तो स्वरूप ही शेषी के कैंकर्य का है। इसका पृथक् 'टेंटें' करना स्वरूप के योग्य नहीं ठहरता। इस लोक में देखते हैं कि जब कोई राजा हाथी पर सवार

---

§ "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" –गीता

¶ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्;
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

होकर कहीं जाता है तो अनेक किंकर लोग साथ चलते हैं—कोई भागता है, कोई धीरे चलता है, कोई आगे रहता है, कोई पीछे। किसी के पास दर्पण होता है, किसी के पास खड्ग, किसी के पास धनुष होता है और किसी के पास द्रव्यादिक। वे लोग उन सब वस्तुओं को रखते हैं और स्वयं चलते हैं, परन्तु उनके वे कार्य अपने अर्थ नहीं है। यदि उनमें से कोई क्षुधार्त होकर भोजन करने के लिए मार्ग में बैठ भी जाता है तो उसका यह भोजन-व्यापार भी स्वामी के अर्थ ही माना जाता है क्योंकि उसका जीवन ही स्वामी के अर्थ है। शरीर की शक्ति ठीक रहने से आगे कैंकर्य (राज-कैंकर्य) बन सकेगा। इस प्रकार 'ये सब व्यापार भगवदर्थ है,' सब व्यापारों में यह बुद्धि रखने से 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' ठीक-ठीक समाचरित होगा। 'जैसे मेरे प्रति अर्पण हो वैसे कर'§—इस भाव में अपना कर्म-व्यापार नहीं छूटा और अभिमान तथा फलाकांक्षा का त्याग हो गया। अपना शेषत्व रहने से स्वरूपानुरूप व्यवहार हो गया। इसमें बन्धन का कुछ भी काम नहीं रहा। यही श्रीमद्भागवत का वचन है—

> कायेन वाचा मनसेन्द्रियैश्च बुद्ध्यात्मना वानुस्मृतिस्वभावात्।
> करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

योगभाष्य में इसी भाव की पुष्टि मिलती है:—

> ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
> तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

और भी अनेकानेक ग्रंथों में उपर्युक्त अभिप्राय के वचन मिलते हैं।

हाँ, तो अपने आदेश में भगवान् ने विभीषण से पहले तो यह कहा—"इस देश में न आना", फिर कहा कि—"मेरी शरण में आ"—इसमें भी विरोध आभासित होता है, किन्तु वास्तव में विरोध है नहीं, क्योंकि आने का निषेध उस देश विशेष के लिए

---

§ मयि अर्पणं मदर्पणं; मदर्पणं यथास्यात् तथा कुरुष्व।

है जो कावेरी के तट पर श्रीरंगनाथ की रंगस्थली बन रहा है और 'मेरी शरण में आ' से अभिप्राय किसी देश विशेष में आने से नहीं है। यह तो 'शरणागति' भाव है जिसको आत्म-समर्पण अथवा प्रपत्ति कहते हैं, जिसको कोई भी, कहीं भी, कभी भी अवलंबन कर के असंशय मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसमें देश, काल और पात्र का नियम नही है। इस कर्म-व्यवस्था में भी वही अन्यत्र कही हुई मायावाली बात दूसरे प्रकार से फिर आ जाती है जिसमें समझाया गया है कि अपने में 'तवास्मि' भाव होने से मायाधीश प्रभु उस माया-बन्धन को हटा देंगे। यह ज्ञान-गर्भ कर्म-योग की कक्षा है।

यह पहले ही कह जा चुका है कि 'प्रकृति' और 'काल' ये दो भेद जड़ के है। प्रकृति के स्वरूप का विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में काल-निरूपण करना है।

काल का स्वरूप

काल समय को कहते हैं। सिद्धान्त में यह 'काल' अद्रव्य नहीं है, द्रव्य है। इसके दो भेद हैं—एक सखण्ड और दूसरा अखण्ड। माया-मण्डल में काल मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि नामों से खंडित होने से सखंड कहा जाता है। वैकुण्ठ में नित्य प्रकाश है। माया-मण्डल में प्रकाश-पिण्डों या ज्योति-गोलकों के संचार से जो खंड का व्यवहार रहता है, यह वहाँ नहीं है। इससे काल वहाँ अखंड है।

काल और प्रकृति का भेद

प्रकृति सत्त्वरजस्तमः त्रिगुणाश्रय है और काल इन तीनों गुणों से शून्य है।

पीछे द्रव्य के दो भेद—जड़ और अजड़ कहे गये हैं। जो जड़ नहीं वह अजड़ है। उस अजड़ के दो भेद हैं—एक प्रत्यक और दूसरा पराक।

अजड़ द्रव्य

'अपने प्रति स्वयंभासमानत्व को प्रत्यकत्व'‡ कहते हैं और 'दूसरे के प्रति भासमानत्व पराकत्व'† कहलाता है। इस दृष्टि से जीवात्मा

‡ स्वस्मै स्वयं भासमानत्वं प्रत्यकत्वम्।
† परस्मै भासमानत्वं पराकत्वम्॥

और परमात्मा, ये दोनों प्रत्यक हैं, क्योंकि ये दोनों ही अपने प्रति आप भासमान होते हैं। अपने (स्वरूप के) प्रति आप भासमान होने में इन्हें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। धर्मभूत ज्ञान और नित्यविभूति, ये दोनों पराक हैं क्योंकि ये अपने प्रति आप भासमान नहीं होते, दूसरे के प्रति भासमान होते हैं।

धर्मभूत ज्ञान

धर्मभूत ज्ञान को समझने से पहले धर्मी और धर्म को समझ लेना चाहिए। दुग्ध धर्मी है और उसकी श्वेतता वा मधुरता धर्म है। पुष्प धर्मी है और चारों ओर फैलनेवाली सुगंध धर्म है। दीपक धर्मी है और चारों ओर फैलनेवाला उसका प्रकाश धर्म है। इसी प्रकार प्रत्यक् स्वरूप जो ज्ञानवान् है वह धर्मी है। उसका ज्ञान (ज्ञानी में रहता हुआ भी) चारों ओर फैलता है, वह धर्म है। जो ज्ञान धर्मी के स्वरूप में रहता है और प्रसरणशील है, उसको धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। आत्मा को अपने स्वरूप से अतिरिक्त शरीर और अनेक बाह्य पदार्थों का बोध धर्मभूत ज्ञान के बिना नहीं हो सकता है। अपने गुण और चेतनाचेतन को जानने के लिए धर्मभूत ज्ञान की आवश्यकता रहती है। धर्मी जो प्रत्यक् है अपने स्वरूप के अतिरिक्त दूसरे किसी भी पदार्थ को धर्मभूत ज्ञान के बिना कैसे ग्रहण कर सकता है? दीपक को जो धर्मी है अपने स्वरूप के प्रति आप प्रकाशमान रहने में दूसरे किसी भी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, परन्तु उसके प्रकाश की, जो धर्म है और जो चारों ओर फैलता है, घट-पटादि अनेक पदार्थों के देखने में अथवा धर्मी (दीपक) का स्वरूप दूसरों को दिखाने में, अपेक्षा रहती है। यह दीपक का उदाहरण थोड़ा संकुचित रहता है, क्योंकि दीपक जड़ होने से ज्ञान-शून्य है, परन्तु आत्मा ज्ञान-शून्य नहीं, ज्ञानवान् है; इसीलिए दीपक के सम्बन्ध में प्रकाशमान् होना वा दीखना जैसे शब्दों का व्यवहार किया जाता है, ज्ञान वा बोध शब्दों का प्रयोग नहीं होता। आत्मा अजड़ है। इसमें ज्ञान शब्द का प्रयोग ठीक-ठीक होता है। आत्मा

का धर्मभूत ज्ञान अपने प्रति आप भासमान् नहीं होता है, दूसरे के प्रति भासमान होता है। संसार के अनेक घटपटादि पदार्थों का बोध आत्मा को होने में अथवा अपना या एक प्रत्यक का बोध दूसरे प्रत्यक को होने में इस प्रसरणशील धर्मभूत ज्ञान की आवश्यकता रहती है।

जीवात्मा और परमात्मा के संबंध से धर्म-निरूपण

पीछे प्रत्यक के दो भेद, जीवात्मा और परमात्मा कहे गये हैं। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जीवात्मा को, अणु होने से, धर्मभूत ज्ञान की आवश्यकता अवश्य रहनी चाहिए; परन्तु परमात्मा विभु होने से सर्वव्यापी एवं ज्ञान-स्वरूप है। उसको धर्मभूत ज्ञान की क्या आवश्यकता है? अपने ज्ञान-स्वरूप से ही सब कुछ जान सकता है? यह ठीक है कि जीवात्मा अणु है और परमात्मा विभु, किन्तु वे अपने स्वरूप का ज्ञान आप रखते हैं। "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" आदि श्रुति-वाक्य परमात्मा को ज्ञान-स्वरूप कहते हैं। यहाँ ज्ञान शब्द से धर्म प्रतिपादित है और "यस्सर्वज्ञ सर्ववित्" आदिक श्रुति-वाक्य परमात्मा को ज्ञानवान् बताते हैं। समझने की बात है कि धर्मभूत ज्ञान न रहने से उस धर्मी परमात्मा को श्रुति ज्ञानवान् कैसे कहती? यह तो उसकी समृद्धि है। परमात्मा विभु होने से आकाशवत् व्याप्त अपने विभु स्वरूप को आप ही जानता है। 'व्यापक' शब्द के प्रयोग से 'व्याप्य' की सिद्धि हो जाती है। बिना व्याप्य के परमात्मा को व्यापक कैसे माना जा सकता है? परमात्मा के सम्बन्ध में व्याप्य शब्द सापेक्ष है। व्याप्य पदार्थ (चेतनाचेतन) परमात्मा का शरीर है। उसको तथा अपने गुणों को जानने में धर्मभूत ज्ञान की अपेक्षा है, ऐसा न मानने से धर्मी स्वरूप अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त अन्य द्रव्यों को कैसे ग्रहण करेगा? इससे ऐसा न समझ लेना चाहिए कि परमात्मा के सर्वशक्तिमत्त्व में कुछ न्यूनता आती है। यह ज्ञानशक्ति उसी की है, न्यूनता का कोई काम ही नहीं। यहाँ 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का प्रयोग छुट्टी लेने के

लिए नहीं है, विवेक और मर्यादा की बात है। ऐसी अगणित शक्तियों में रहने से ही तो 'सर्वशक्तिमत्व' है और असंख्य शक्तियों में एक बड़ा भाग इसका भी है।

ये दोनों पराक हैं। जानने की बात है कि एक नित्यविभूति है और एक लीलाविभूति। नित्यविभूति वैकुंठ को कहते हैं और लीलाविभूति माया-मंडल के वैभव को कहते हैं।

धर्मभूत ज्ञान और नित्यविभूति

रज तम के साथ जो सत्त्व है, वह मिश्र सत्त्व कहलाता है। माया इसका कार्य है। लीलाविभूति में जितने पदार्थ हैं, वे इस मिश्र सत्त्व के परिणाम हैं। इसी प्रकार नित्यविभूति शुद्ध सत्त्व का परिणाम है, जिसमें-रज-तम विहीन केवल सत्त्व रहता है। वैकुण्ठ में गोपुर, मंडप, प्राकारादि मुक्त नित्यों के शरीर और भगवान् का दिव्य मंगल विग्रह, ये सब शुद्ध सत्त्व के परिणाम हैं। भगवदिच्छा से भगवद्वि-ग्रह रूप-परिणति को भी प्राप्त होता रहता है। "इच्छाग्रहीताभि-मतो स देहः", "षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम्" आदि प्रमाणों में शुद्ध सत्त्वमय भगवदविग्रह का वर्णन है। जीव ज्ञानस्वरूप है। इसका जैसे मायामण्डल में मिश्र सत्त्व आच्छादन करता है, वैसे नित्यविभूति में शुद्ध सत्त्व उस ज्ञान-स्वरूप का आच्छादक नहीं है और धर्मभूत ज्ञान जैसे प्रत्येक धर्मी का धर्म है, वैसे यह शुद्ध सत्त्व धर्म नही है। यह तो एक स्वयंप्रकाश स्वतंत्र द्रव्य विशेष है। जब किसी मुक्त जीव को शुद्ध सत्त्व शरीर मिलता है तो वह शरीर मुक्तात्म शरीरी के प्रति भासमान होता है। इस प्रकार मुक्तात्मस्वरूप के प्रति भासमान होने से अजड़ के भेद में पराक माना जाता है।

"धर्मभूत ज्ञान" भी दूसरे के प्रति इसी प्रकार भासमान होने से "पराक" माना जाता है, परन्तु भेद यह है कि धर्मभूत ज्ञान सत्त्व-गुणाश्रय नहीं है और उसका गोपुर, मण्डप, प्राकारादि रूप से अथवा शरीर रूप से परिणाम नहीं होता है।

अध्याय ४

प्रत्यक के जीवात्मा और परमात्मा, ये दो भेद कहे गये हैं। परमात्मा के गुण, नाम और स्वरूप अवर्णनीय है। यदि ब्रह्मा के ऊपर अनेक ब्रह्माओं की कल्पना में एक उच्चतम ब्रह्मा की कल्पना करलें जिसने अनादि काल से भगवद्गुण-वर्णन के अतिरिक्त अन्य काम नहीं किया हो तो उसके द्वारा भी परमात्मा का एक भी गुण यथार्थ रीति से वर्णन नहीं किया जा सकता। एक गुण का पूरा होना तो अलग रहा, यह भी कल्पना नहीं कर सकते कि उसका कोटयंश भी वर्णन हो सका होगा। कोटि की संख्या में तो एक के ऊपर सात ही विन्दु होते हैं; यदि ऐसी कल्पना करें कि वैसा ही दूसरा ब्रह्मा अनादि काल से एक-एक क्षण में अनन्त-अनन्त कोटि बिन्दु उस अंक पर लगाता आया हो, अब भी इसी हिसाब से लगा रहा हो और आगे भी अनन्त काल तक इसी हिसाब से लगाता चला जाये तो भी यह नहीं कहा जा सकता है कि भगवत् के एक भी गुण के 'इतने' भाग का वर्णन हो गया। शेष जी भगवन्नामोच्चारण से अपनी जिह्वा को सदा पवित्र करते रहते हैं और नये से नये नाम लेते रहते हैं, परन्तु अब तक कोई भी नाम पूरा नहीं लिया जा चुका है। फिर स्वरूप वर्णन की बात तो असंभव है। अनन्त का अन्त कदापि संभव नहीं है। परमात्मा के पराक्रम का भी परिमाण नहीं है। इसी से 'सहस्रनाम' में उसको "अमितविक्रम" कहा गया है। उसके अनेकरूप है। इससे उसे "नैकरूप" कहा गया है। उसकी माया के अगणित रूप हैं, इसलिए उसे "नैकमाय:" कहा गया है। अनेक नियमों का विधायक होते हुए भी, स्वयं नियम-बंध से मुक्त है, अतएव उसे 'अनियम" एवं "[illegible]" कहा गया है। उसकी किसी से तुलना नहीं हो

परमात्म प्रत्यक का निरूपण

सकती, इससे उसका नाम 'अतुल' भी है। ऐसे परमात्मा का वर्णन कैसे हो सकता है। स्तुति करते समय [illegible] स्वामी कहते हैं—"जिसके महिमा-समुद्र की एक बिन्दु का भी शर्व, ब्रह्मादि ठीक-ठीक माप नहीं कर सके हैं उसकी महिमास्तुति के लिए उद्यत हुए मुझ निर्लज्ज कवि को नमस्कार हो। अथवा यों कहो कि श्रम की अवधि तक मैं अशक्त भी यथामति स्तुति करता हूँ और वेद, ब्रह्मादिक भी सदा स्तुति करते रहते हैं, किन्तु परमात्मा की स्तुति के असीम क्षेत्र में किसी की विशेषता नहीं, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि महासागर में डूबते हुए अणु और कुलाचल में कोई भेद नहीं अर्थात् महासागर की गंभीरता में जिस प्रकार अणु डूबता है उसी प्रकार कुलाचल भी। इस काम में दोनों ही समान हैं। अति तुच्छ मैं जिस प्रकार परमात्मा की पूर्ण स्तुति नहीं कर पाता हूँ उसी प्रकार वेद ब्रह्मादिक बहुत बड़े होते हुए भी पूर्ण स्तुति नहीं कर पाते हैं। अपूर्णता दोनों में है, तो भी स्तुति वे भी करते हैं और मैं भी।"*

यद्यपि भक्त द्वारा भगवत्स्तुति करना केवल उसकी अयोग्यता का परिचय है, फिर भी जबकि उसके सभी व्यवहार भगवदर्थ हैं तो गिरासे भी जो कुछ निकलता है वह भी तदर्थ है। भगवान् को प्रणाम करते हुए स्वामी यामुनाचार्य कहते हैं—"वाणी और मन की अतिभूमि (ऐसे भगवान् जिसे वाणी और मन नहीं पा सकते) को नमस्कार है, वाणी और मन की एकभूमि (यदि वाणी और मन कुछ पा सकते हैं तो एकमात्र उसी को) को नमस्कार है; अनन्त और महाविभूति परमात्मा को नमस्कार है; अनन्तदया के एकमात्र सागर (परमात्मा) को नमस्कार है।"†

---

* तत्वेन यस्य महिमार्णव शीकराणु शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः।
कर्तुं तदीय महिमस्तुतिमुद्यताय मह्यं नमोस्तु कवये निरपत्रपाय॥
यद्वा श्रमावधि यथामति वाप्यशक्तः स्तौम्येवमेव खलु तेऽपि सदास्तुवन्तः।
वेदाश्चतुर्मुखमुखाश्च महार्णवान्तः को मज्जतोरणुकुलाचलयोर्विशेषः॥

† नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये, नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये, नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे॥

यहाँ यह शंका रह सकती है कि महाविभूतिवान् होने से वह हमारी ओर दृष्टि क्यों करने लगा ? इसके समाधान के लिए अन्तिम पद में कह दिया गया है कि वह अनन्तदया का एक समुद्र है। अतएव हम जैसे हीन जीवों का ठीक-ठीक निर्वाह होगा, क्योंकि उस दया के पात्र होने से वह हम लोगों पर दया करेगा। जहाँ यह है कि परमात्मा वाणी और मन की पकड़ में नहीं आ सकता, वहाँ चित्त के उत्साहित करने के लिए यह भी कहा गया है कि भगवान् ही वाणी और मन की एकभूमि हैं अर्थात् मन और वाणी में उसके पूर्ण स्वरूप के ग्रहण करने और वर्णन करने की शक्ति नहीं है, तथापि ये दोनों जो कुछ भी पकड़ते हैं, उसी को पकड़ते हैं। अधिष्ठान होने से मुख्य होकर वही आ जाता है।

राम होने से सब जगह वही रम रहा है। "विद्वान् लोग उसे वासुदेव इसलिए कहते हैं कि वह सर्वत्र समस्त बसता है।"* अच्युत, अनन्त, गोविन्द, जगन्नाथ, देवेश, नारायण, पुरुषोत्तम, भूतभव्यभवन्नाथ, माधव, हरि आदि उसी के नाम हैं।

उसके पाँच रूप कहे जाते हैं:—(१)पर (२) व्यूह (३) विभव, (४) अन्तर्यामी, (५) अर्चा। 'पर' वैकुण्ठनाथ हैं। वे विरजा के पार, माया-मण्डल के परे विराजते हैं। इस दिव्य, मंगल विग्रह के चरणारविन्द में पहुँच जाना ही उन मुमुक्षुओं का उद्देश्य है जो वास्तव में 'भगवत्पर' हैं। ऐसा रूप-सौन्दर्य किसी में नहीं है।

पर के पीछे दूसरा भगवत्स्वरूप 'व्यूह' है। यह चतुर्धा है— वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इन चारों में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, ये छै गुण पूरे-पूरे हैं, किन्तु वासुदेव में तो वे प्रकट हैं और शेष तीनों में भिन्न-भिन्न दो-दो प्रकट

---

* **सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।**
अतः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

और चार-चार अप्रकट हैं। उपासकों की उपासना और जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार के व्यापार-भेद से यह मूर्ति-भेद है।

तीसरा 'विभव' स्वरूप है जो राम, कृष्ण आदि अवतारों में मिलता है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तब-तब महात्माओं के (साधुओं के) परित्राण और धर्म की संस्थापना के लिए भगवान् अवतार धारण करते हैं। ये सब अवतार 'विभव' कोटि में हैं।

चौथा 'अन्तर्यामी' स्वरूप है। वह सब के अन्तर में प्रविष्ट होकर यमन करता रहता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसकी इन्द्रिय-गोचरता के अर्थ जीवों में योग्यता नहीं है। इसलिए 'सहस्रनाम' में उसके 'अव्यक्त', 'अतीन्द्रिय', अमूर्तिमान', अदृश्य आदि नाम हैं। व्यापक अधिष्ठानस्वरूप होने से माया-मण्डल का यावत्प्रपंच इसी की सत्ता से खड़ा है। 'निराकार' शब्द से जो कोलाहल सुना जाता है, वह इसी 'अन्तर्यामी' 'अव्यक्त का प्रतिपादन है, किन्तु 'पर', 'व्यूह', 'विभव' और 'अर्चा' ये चारों स्वरूप साकार हैं।

पाँचवाँ स्वरूप 'अर्चा' है। जहाँ-तहाँ भगवान् के मंदिरों में तथा उपासकों के घरों में जो पूजन होता है, वह भगवान् के 'अर्चा' स्वरूप का होता है।

ऊपर 'विग्रह', 'चरणारविन्द' और 'रूप-सौन्दर्य' आदि शब्दों से वैकुण्ठनाथ का साकारत्व प्रतिभासित होता है। वे साकार हैं।

भगवत्साकारता

उनके आकार की मधुरता असीम है और उनके दर्शन की अभिलाषा महात्माओं को सदैव लगी रहती है। यामुनाचार्य स्वामी अपनी प्रार्थना में कहते हैं—"जिन महात्माओं ने एक बार तेरे आकार के दर्शन करने की अभिलाषा में सर्वोत्तम योग और मुक्ति को तृण कर दिया है और जिनका विरह तुझे एक क्षण भर भी दुःसह है, उनकी दृष्टि मुझ पर डाल।"†

---

† **सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः।**
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय क्षणेऽपि ते यद्विरहोतिदुःसहः॥

अनन्य भक्त महात्माओं को मायामण्डल से छूटने की लालसा नहीं रहती, उन्हें केवल भगवदाकार के दर्शनों की लालसा बनी रहती है। उस दर्शन से वे कृतकृत्य हो जाते हैं। मायामण्डल तो स्वत. ही छूट जाता है। भगवान् के नित्ययौवनमय दिव्य आकार की सन्निधि पाकर तथा उस छवि को देख कर जिसके अद्‌भुत लावण्य और दिव्य माधुर्यादि गुण का ह्रास कभी नही होता, एक माया क्या अनेक माया दूर भाग जाती हैं। उसी स्वरूप को 'विरजा के पार' कहा है।

रजादि माया के गुण हैं। वे विरजा पर ही विगत हो जाते हैं। इसी से वैकुण्ठनाथ का नाम कहीं-कहीं 'निवृत्तात्मा' और 'निर्गुण' भी आ जाता है। माया तथा उसके गुणों की सीमा विरजा शब्द से ही सिद्ध होती है। वैकुण्ठ में माया का नाम भी नहीं है। वहाँ इसका कुछ भी बल नहीं पहुँचता। वहाँ तो माया के स्वामी साक्षात् परमेश्वर हैं जिनको 'केशव', 'पुण्डरीकाक्ष' और 'मुकुन्द' भी कहते हैं और जो समस्त कल्याण और गुणामृत के सागर है। उनकी छवि ही आनन्द स्वरूप है।

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने भगवान् के विख्यात और गौण एक सहस्र नाम बतलाये थे। उनमें अमृतवपुः, दीप्तमूर्ति, द्युतिधर, वरांग, बृहद्रूप, महामूर्ति, [illegible], शरीरभृत और शान्ताकार आदि नाम भी आए हैं। ये नाम सार्थक हैं। उस स्वरूप में यह विशेषता है कि उसका कोई मान निश्चित नहीं कर सकता, इसलिए भीष्म ने भगवान् को 'अमेयात्मा' भी कहा है। यावद्विभूति उसी साकार परमात्मा की है। स्वामी यामुनाचार्य अपनी स्तुति में कहते हैं—"जो यह ब्रह्माण्ड है, जो कुछ इस ब्रह्माण्ड के भीतर गोचर है, जो दशोत्तर आवरण हैं और जो गुण, माया, जीव, परंपद और परात्पर ब्रह्म हैं, ये तेरी विभूति हैं।"*

---

* यदण्डमण्डान्तरगोचरञ्च यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च ।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परंपदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः ।।

देखने की बात है कि ऊपर 'परंपद' और 'परात्पर ब्रह्म' (चेतनाचेतनविशिष्ट भगवत्स्वरूप जो प्रपंच का शरीरी और अधिष्ठान हैं) भी उसी साकार स्वरूप की विभूति कहा गया है। धन्य हैं वे मुक्तात्मा जो इस स्वरूप की सन्निधि में पहुँच कर इसके गुणों का अनुभव और विग्रह का कैंकर्य प्राप्त करते हैं। यह स्वरूप सबसे विलक्षण और सबसे ऊँचा है। चार प्रकार का मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) भी इसी विग्रह के सम्बन्ध से है। उस दिव्यरूप से प्रतिष्ठित लोक को प्राप्त करके ही सालोक्य मोक्ष मिलता है, अन्यथा 'सालोक्य' कैसा ? उस रूप (आकार) के समीप पहुँच कर ही सामीप्य मोक्ष प्राप्त होता है। बिना उसके आकार के सामीप्य किसका ? समीप और दूर का भाव बिना रूपाभिव्यक्ति के हो नहीं सकता और उस प्रभु के रूप के बिना 'सारूप्य' मोक्ष कैसा ? उस रूप की अभिव्यक्ति के बिना सायुज्य भी कैसे संभव हो सकता है ?

प्रत्यक्षवादी उसे रूपसम्पत्तिहीन कह सकते हैं, किन्तु सर्वैश्वर्य-सम्पन्न को ऐसा मानना बुद्धि की शोच्यता नहीं तो क्या है ? इस मायामण्डल में निवास करते हुए उस धर्मी को 'इदम्' कहकर समक्ष निर्देश करना संभव नहीं है। भगवद्विग्रह शुद्ध सत्त्वमय होने से लौकिक, त्रिगुणात्मक प्राकृत द्रव्य से विलक्षण है, अतएव अनुपम होने से 'ईदृशं' कहकर उसका प्रकार-निर्देश भी नहीं हो सकता। इसी कारण सहस्रनाम में भगवान् का नाम 'अनिर्देश्यवपु' भी आया है। इस शुद्ध सत्त्वमय भगवद्विग्रह को 'पञ्चोपनिषद्विग्रह', षाड्गण्य-मय विग्रह', 'पञ्चशक्तिमय विग्रह' ऐसे एक-एक निमित्त से प्रतिपादन करते हैं। शुद्ध सत्त्व स्वयं प्रकाश होने से दर्पणान्तस्थ पदार्थ की भाँति शरीरान्तस्थ आत्मस्वरूप गुणादिक प्रकाशित रहते हैं। इस षाड्गुण्यप्रकाशकत्व के कारण उसे 'षाड्गुण्यविग्रह' प्रतिपादन करते हैं। यह शुद्ध सत्त्व परमेष्टि, पुमान्, विश्व, निवृत्ति और सर्व, पाँच प्रकार का है। इन पाँचों को पञ्चोपनिषत् एवं पञ्च-

शक्ति नाम से अभिहित किया गया है। इसलिए भगवद्विग्रह को पंचोपनिषत्विग्रह एवं पंचशक्तिविग्रह नाम से प्रतिपादित किया जाता है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने भी अपने उपदेशों में यही प्रतिपादित किया है कि ईश्वर के दर्शन होते हैं और हम उसका प्रत्यक्ष रूप में मित्रवत् स्पर्श भी कर सकते हैं। वैकुण्ठनाथ के दिव्य मंगलविग्रह की सन्निधि में पहुँचना ही परम भक्तों और परम भागवतों का मोक्ष है। भगवान् का अन्तर्यामी अव्यक्त स्वरूप, जिसको आजकल प्रायः निराकार शब्द से अभिहित किया जाता है वह तो अब भी (वर्तमान काल में भी) अत्यन्त निकट है और अव्यक्त अधिष्ठान स्वरूप वह सब जीवों में सदा समरूप में स्थित रहता है, किन्तु इससे सबकी सामीप्य मुक्ति की दशा नहीं कह सकते। देखने की बात है कि वैकुण्ठनाथ के साकार स्वरूप की उपासना ही को तो कल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्मोपासना कहते हैं और भगवत्प्राप्तिकाम जन इसी उपासना का अवलम्बन करते हैं। फलदशा में उपासना के अनुसार भगवद्गुण ही उनके अनुभव में आते हैं। 'उपासना' शब्द की सांगता-सिद्धि भी भगवान् के साकार स्वरूप से ही है क्योंकि 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ बैठना है। अतएव उपासना शब्द की सार्थकता भगवान् को साकार मानने से (भगवद्विग्रह को स्वीकार करने से) ही सिद्ध हो सकती है। यदि आकार ही न होगा तो 'समीप' और 'दूर' की माप कैसे हो सकेगी ?

भगवान् शब्द की व्याख्या

यह शब्द 'भग' शब्द के साथ 'वतुप' प्रत्यय के लगने से बना है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यादि छै गुणों का वाचक है और 'वान्' का अर्थ वाला है। इस प्रकार भगवान् शब्द परमात्मा के उस रूप की ओर संकेत करता है जो ऐश्वर्यादि छै गुणों से युक्त है। वे छै गुण ये हैं:—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और

वैराग्य।† (१) सब पदार्थों के नियमन की सामर्थ्य को 'ऐश्वर्य' कहते हैं, (२) सर्वविरोधिनिरसन-सामर्थ्य को 'वीर्य' कहते हैं, (३) सार्वत्रिककल्याणगुणप्रथा को 'यश' कहते हैं, (४) सदा अपरिमित दान किए जाने पर भी अक्षय समृद्धिमत्त्व की क्षमता को (योग्यता को) 'श्री' कहते हैं, (५) एक काल में समस्त पदार्थविषयक प्रत्यक्षीकरण का नाम 'ज्ञान' है और (६) अवाप्त समस्तकामत्व को 'वैराग्य' कहते हैं। ये छै गुण भगवत्स्वरूप में सदा रहते हैं।

भगवत्स्वरूप की अव्यक्तता और साकारता की संगति

भगवत्स्वरूप का आकार सदैव प्रकट नहीं है, इस आशय से उसे निराकार कहने में कोई हानि नहीं है, किन्तु निराकार से यह आशय ग्रहण नहीं करना है कि उसमें आकार का होना सदैव असंभव है। यह समझना भूल होगी कि अव्यक्त से तात्पर्य साकार से नहीं होता और साकार एकदेशीय एवं अव्यापक होता है। क्या प्रह्लाद की सी दृढ़ एवं अनन्य भक्ति रखने वाले अपने पचास भक्तों को भगवान् अपने चतुर्भुज स्वरूप से एक ही समय में दर्शन नहीं दे सकते ? अवश्य दे सकते हैं। ऐसी बात नहीं है कि व्यापक स्वरूप में केवल निराकारता ही की संभावना और योग्यता हो। यदि ऐसा हो तो यह आकार कहाँ से प्रकट होगा ? यदि साकारता के कारण भगवत्स्वरूप की एक-देशीयता मानलें तो वे एक ही समय अपने अनेक भक्तों के समीप नहीं पहुँच सकते, किन्तु ग्रन्थों में अनेक प्रमाण हैं कि भगवान् ने अपने अनेक भक्तों को अविलम्ब एक ही साथ दर्शन दिये हैं। इससे अव्यक्त रूप से व्यापकता सिद्ध है—वह व्यापकता जो साकारता से शून्य नहीं है।

---

† ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।

ऐसी बात नहीं है कि भगवान् में दो विपरीत भाव प्रश्रय नहीं पाते। वे दो क्या, लाखों विपरीत भावों के आश्रय हैं। सहस्रनाम में जिनको 'कृश' कहा गया है, उन्हीं को स्थूल भी कहा गया है। उन्हीं के लिए 'अणु' और उन्हीं के लिए बृहत्' नाम का प्रयोग भी हुआ है। जिनका नाम 'भयकृत' है, उन्हीं का नाम व्यवहारभेद से 'भयनाशन' भी है। वे दुरात्माओं के लिए भयकर्ता और भक्तों के लिए भयहर्ता हैं। विपरीत भावों की स्थिति भगवान् का दोष नहीं, गुण है। उन्हीं को 'अविज्ञाता' और 'सहस्रांशु' दोनों नामों से अभिहित किया गया है। प्रपन्न लोगों के दोषों पर दृक्पात न करने से भगवान् को 'अविज्ञाता' कहा गया है, किन्तु सर्वज्ञ होने से उनको 'सहस्रांशु' कहना युक्त ही है। भगवत्-स्वरूप मे अनेक प्रकार की बातें † संगत बन जाती हैं, इससे सहस्रनाम में उनको 'सर्वलक्षणलक्षण्य' कहा गया है।

'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा', इस श्रुतिवाक्य से भगवान् का सूक्ष्म अन्तर्यामी स्वरूप प्रमाणित होता है। 'अणोरणीयान्' श्रुतिवाक्य भी भगवत्स्वरूप की सूक्ष्मता का प्रतिपादन करता है, परन्तु भगवान् के अव्यक्तस्वरूप की महिमा में ऐसा नहीं मानना चाहिए कि भगवान् का स्वरूप केवल छोटा ही है, क्योंकि 'महतोमहीयान्' श्रुतिवाक्य से उसका स्वरूप सब से बड़ा भी प्रमाणित होता है। यदि ऐसा न हो तो ये वाक्य नितान्त मिथ्या हों। चिदचिद्विभागों में बँटा हुआ यह विचित्र विश्व किसके अयुतायुत कलांश के एक अंश में ही है?'† अथवा 'हरविरंचि मुख्य हैं जिसमें ऐसा यह प्रपंच किसके उदर में हैं?' ‡ अथवा 'आपके सिवा अन्य ऐसा कौन है जो आक्रमण करके इस

---

† 'कस्यायुतायुतशतैककलांशकांशे विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम्'।

‡ 'कस्योदरे हरविरञ्चिमुखः प्रपञ्चः'।

प्रपंच को निगल कर फिर उद्गीर्ण कर दे?'† यह सब वैभव भगवान् के बड़े स्वरूप का है। वह इतना बड़ा है कि उसके लम्बाई-चौड़ाई आदि गुणों का प्रमाण करना भी संभव नहीं है। इसीकारण उसको 'अप्रमेय' कहा जाता है।

'अणीयान्' और 'महीयान्' इन दो गुणों से युक्त ही भगवान् का अव्यक्त स्वरूप नहीं है, अपितु 'अव्यक्त स्वरूप' में 'द्रव्यमात्र के समान' स्वरूप का भी आकलन होता है। इस भाव का स्पष्टीकरण 'कलश-सागर' उदाहरण से किया जा सकता है। यदि समुद्र में एक कलश डाल दिया जाए तो जितना जल कलश के भीतर आजावेगा उसका आकार कलश के आकार से छोटा होगा, किन्तु कलश के बाहर जो सागर-जल दूर तक भरा हुआ है उसका आकार कलश के आकार से बहुत बड़ा होगा, ‡ किन्तु एक तीसरा आकार द्रव्यमात्र के समान और माना जायगा। जिस प्रकार जल का आकार कलश से छोटा, कलश से बड़ा और कलश के समान मान सकते हैं, उसी प्रकार भगवतस्वरूप द्रव्यमात्र से बड़ा, द्रव्यमात्र से छोटा और द्रव्यमात्र के समान भी माना जाता है, किन्तु भगवान् द्रव्यमात्र में पूर्णस्वरूप हैं। ऐसी बात नहीं है कि एक द्रव्य में भगवान् का एक अंश है। इस भूल से कदाचित् सहस्र द्रव्यों में पूर्णभगवान् मानने की संभावना होगी और कदाचित् एक-एक द्रव्य में भगवान् के सहस्रांश की कल्पना करनी होगी। जब तक वे एक सहस्र अंश इकट्ठे नहीं होंगे तब तक वह 'अंशी' भगवान् पूर्ण नहीं होगा। जिस प्रकार पचास घटों में से प्रत्येक को उसके 'घटत्वधर्म' में पूर्ण कहा जायगा अर्थात् यह कहा जायगा कि यह भी घट है, यह भी घट है..........और

---

† 'क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यकः' ।

‡ हाँ, यह उदाहरण अवधिवाले द्रव्य का है भगवत्स्वरूप सावधि नहीं है।

यह भी घट है उसी प्रकार द्रव्यमात्र के लिए यह कहा जा सकता है कि यह भी विष्णु है, यह भी विष्णु है और यह भी विष्णु है। यह केवल मन की कल्पना नही है, इस विषय में श्रुति प्रमाण है:—"ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः × × × × ।" अतएव सहस्रद्रव्यों में से विष्णु का एक-एक अंश इकट्ठा करके, उनको जोड़ कर एक पूरा विष्णु बनाने की बात तो हास्यास्पद होगी। वह प्रत्येक व्यक्ति और द्रव्य में पूर्ण है। हिरण्यकशिपु के स्तंभ में पूरे ही विष्णु थे जो "नृसिंहरूप' में प्रकट हुए थे।

विष्णु भगवान् का एकत्व

'सहस्रनाम' में विष्णु को एकात्मा कहा गया है, इसलिए विष्णु एक ही है; परन्तु उसके अनेक रूप हैं। 'अनेक रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे'—आदि वाक्यों से यही तथ्य सिद्ध होता है। प्रत्येक स्वरूप अपने प्रति आप पूर्ण होने के भाव से यदि कोई 'अनेक विष्णु' कहे तो इसमें कोई हानि की बात नहीं, प्रत्युत गौरव है। सहस्रनाम में इस अभिप्राय के भी अनेक नाम हैं, जैसे अनन्तरूप अनन्तात्मा, नैक, नैकात्मा, अनेकात्मा, अनेकमूर्ति, असंख्य आदि।

अन्यत्र कहा गया है कि वैकुण्ठनाथ का 'पर' स्वरूप माया-मण्डल के परे है और अन्तर्यामी अव्यक्त स्वरूप, जो चेतनाचेतन के भीतर अन्त.प्रविष्ट होकर इस प्रपंच के अधिष्ठान रूप में प्रतिष्ठित रहता है, मायामण्ल के भीतर है। ये दोनों स्वरूप सर्वथा भिन्नसे प्रतीत हौते हैं। यदि विलक्षणता के साथ पाँच व्यवहारों की प्रतीति न होती तो पाँच स्वरूपों का कथन व्यर्थ होता; परन्तु इनमें वास्तवं में भेद नही है। यदि इनमें भेद की प्रतिष्ठा होती तो भगवान् स्वयं 'एकोऽहम्' न कहते। 'एकोऽहम' को स्वीकार करके भगवान् के अनेकत्व की बात ही नहीं उठती। इस विषय में भेद-बुद्धि के निवारण के लिए ही 'तत्त्वमसि' के वाक्य का अनुसंधान किया जाता है। इस महावाक्य में निकटवर्ती

मुख्य शरीरी अन्तर्यामी को सम्बोधन करके 'त्वं' (तू) का प्रयोग किया गया है। तत् (वह) से दूरवर्ती का ग्रहण होता है और असि' वर्तमान काल की क्रिया है, इसका अर्थ है 'है'। भाषा में इस वाक्य का अर्थ होता है—तू वह (या वही) है। यह अनुसंधान भगवत्स्वरूपों के प्रतीयमान भेद को गला कर अभेद की स्थापना करता है।

भगवदाकार

भगवदाकार कैसा है, यह तो कोई तभी कह सकता है जबकि मूर्ति बने। शास्त्रों में जहाँ-तहाँ भगवदाकार का वर्णन आया है। यह कहना केवल मिथ्या प्रचार होगा कि वर्णन करने वालों में से किसी ने भी दर्शन नहीं किए। भगवान् के अनेक भक्त और उपासक हो चुके हैं और वेद ने भी उसे 'दृष्टव्य' कहा है। दर्शन करने वालों के अनेक आख्यान कहे-सुने जाते हैं। ऐसे अनेक आख्यानों का प्राचीन ग्रन्थों में भी प्रसंग और उल्लेख है। विधान करने वालों की बात निर्मूल नहीं है। जो शास्त्रों में विश्वास करते है, वे उनकी बातों को सत्य भी मानते हैं। जो केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते है, उन्हें भगवद्दर्शनों की चेष्टा करनी चाहिये। दर्शन हो जाने पर भगवदाकार स्वीकार करने की बात तो उचित भी है, किन्तु दर्शन-चेष्टा से पूर्व ही, सत्याग्रह से पूर्व ही दुराग्रह या मिथ्याग्रह करके, भगवदाकार का निषेध कर देना नितान्त अनुचित है। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि भगवद्दर्शन अभी उनके भाग्य में नहीं है। दर्शन से पूर्व दर्शन-चेष्टा उचित ही है। कुछ लोग दर्शन-चेष्टा न करके पहले ही दर्शन को असंभाव्य मानकर इस मार्ग का बहिष्कार कर देते हैं। उनकी जो रुचि दर्शन में होनी चाहिए वह तो निषेध में लगी रहती है, फिर दर्शन कैसे हो? शास्त्रीय आधार पर ही भगवान् की मूर्ति बनाई जाती है। उसको परंपरा और संस्कारों की अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् की किसी नूतन मूर्ति की भावना को

अनुचित तो नहीं कह सकते, परन्तु उसको परम्परा और संस्कारों से उत्पन्न हुई चिरन्तन मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती। भगवन्मूर्ति खुर्पे के आकार की भी हो सकती है, क्योंकि भगवदाकार में सब प्रकार के आकार सन्निविष्ट हैं। एक मूर्तिकार एक ही शिला से हाथी, घोड़ा, मयूर आदि जो चाहे वह बना सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये रूप बाहर से लाये गये हैं। ये अनेक आकार शिला में ही प्रस्तुत हैं, किन्तु अव्यक्त रूप में। जिस आकार के प्रति मूर्तिकार की रुचि हुई उसी को काट-छाँट कर व्यक्त रूप में निकाल लिया। भगवान् का आकार भक्त की निर्मल अनन्य भावना से उत्पन्न होता है।

विचार एवं चिन्तन का स्वातंत्र्य सब का जन्म सिद्ध अधिकार है। कोई उक्त सिद्धान्त को मानता है या नहीं, यह हमारी चिन्ता का विषय नहीं है। यदि चिन्ता का विषय होगा तो मुमुक्षुओं के लिए जो पर-स्वरूप का सान्निध्य अथवा कैंकर्य प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि वह (पर-स्वरूप) जो साकार है, उनका अन्तिम लक्ष्य बना है। सुगमता की दृष्टि से साकार ही के कैंकर्य का अभ्यास करना उचित है। साकार पर-स्वरूप की प्राप्ति अभ्यास के लिए सुगम न होने के कारण साकार अर्चा-स्वरूप से अभ्यास करना चाहिए, जिससे फल-दशा (मोक्ष-दशा) में साकार पर-स्वरूप ही मिले। यदि उपाय-दशा में साकार-कैंकर्य का अभ्यास रुचिपूर्वक न किया जायगा तो फल-दशा में साकार कैसे मिल सकेगा ?

भगवद्विग्रह का अर्चन और दर्शन करने वाले इस माहात्म्य को जानते हैं। जगन्नाथजी की सवारी के साथ-साथ दारु-ब्रह्म का दर्शन करते हुए जाने वाले उपासक लोग मुख से बोलते जाते हैं, 'जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे', अर्थात् जगन्नाथस्वामी मेरे नयन-पथगामी हों। स्पष्ट है कि उपासक लोग दर्शन माँगते हैं।

भगवान् का अर्चा-स्वरूप

अर्चा-स्वरूप जगन्नाथजी के दर्शन तो हो ही रहे हैं, इसका क्या माँगना? फिर भी वे ऐसा माँगते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि वे साकार अर्चा-स्वरूप के दर्शन करते हुए साकार वैकुंठनाथ के दर्शन माँगते है। इस स्वरूप के दर्शन से उस स्वरूप के मिलने की संभावना होने से ही वे उस स्वरूप के दर्शन की याचना करते है। यहाँ यह न समझलेना चाहिए कि उपासकों को वैकुण्ठनाथ के दर्शन ही वाञ्छनीय हैं। अर्चा-स्वरूप उनके ध्यान में नही होता, क्योंकि उनकी चेष्टाओं और 'रथारूढ़ोगच्छन्' आदि वाक्यों से अर्चा-स्वरूप का ध्यान स्वयंसिद्ध है ।

उक्त विवेचन से अभ्यास का महत्त्व स्पष्ट है। कई क्षत्रियों को देखा है कि वे दशहरे पर भैंसे की बलि देने के निमित्त डेढ़-दो पाख पहले से नित्य अभ्यास करने लगते है। अभ्यास की दशा में वे गीली मिट्टी का भैंसा बना कर उस पर प्रहार किया करते हैं। यह अभ्यास उन्हें दशहरे पर काम देता है। यदि वे अभ्यास की दशा में निराकार पर खड्ग प्रहार किया करें तो दशहरे पर उनको सिद्धि नहीं मिल सकती, क्योंकि प्रथम तो निराकार भैंसे पर अभ्यास हो ही कैसे सकता है? यदि वे उन्मत की भाँति वायु में खड्ग चलाने भी लगें तो साकार भैंसे की बलि में उन्हें उससे क्या सहायता मिलेगी—उससे उन्हें क्या सिद्धि मिलेगी? अतएव यह कहना उचित ही है कि उनके अभ्यास के अनुरूप ही उनकी सिद्धि होगी।

कहना न होगा कि भगवान् प्रेम-स्वरूप हैं। उनकी उत्तम मूर्ति प्रेम के अतिरेक में ही बनती है। प्रेम की बहुलता एवं अनन्यता की दशा में ही प्रिय की मधुर मूर्ति मन के सामने रह सकती है। देश और काल के व्यवधान से प्रेम के लौकिक आलम्बन की मूर्ति तो हमारे मन के सामने ही आ सकती है, किन्तु भगवान् अलौकिक आलम्बन हैं। उनमें यह विलक्षणता है कि अनन्य प्रेमी के मन में उनकी मूर्ति के स्थान पर उ॰का

साक्षात् स्वरूप ही उसकी आँखों के सामने आता है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि प्रभु के आकार में सब प्रकार के आकार सन्निविष्ट हैं। उसको लक्ष्य करके कैसी ही मूर्ति बनाई जाए, उद्दिश्य प्रभु फल दशा में उद्देश के आधीन अपने अत्यन्त मनोहर स्वरूप में दर्शन देंगे। वह आपके कौशल (शिल्प) को नहीं देखता, वह देखेगा प्रेम को।

अब रही भगवत्स्वरूप को पहले देखने की बात। इस संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि माया-मण्डल में यह बात पहले नहीं हो सकती। यह जीव जो माया-मण्डल में आदिकाल से चला आ रहा है',† एक बार ही वैकुण्ठनाथ के दर्शन होते ही जन्म-मरण-रूप संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है और नित्य विभूति में परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

अर्चा-स्वरूप में जड़-भाव की प्रतीति से लोगों को संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, किन्तु अर्चा-स्वरूप की विलक्षणता के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। यदि अर्चा-स्वरूप में जड़-भाव से विलक्षणता न होती तो अचेतनविशिष्ट ब्रह्मोपासना में ही जो समस्त जड़ जगत् में ईश्वर को बताती है, यह भाव समानरूप से आ जाता; परन्तु इस अर्चा-स्वरूप को तो भगवान् का पाँचवाँ स्वरूप बताया है। कहना न होगा कि सौशील्य, वात्सल्य, स्वामित्व और सौलभ्य, भगवान् के इन चार गुणों में से 'सौलभ्य' का परिचय विशेषतः इस अर्चा-स्वरूप में ही मिलता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी भगवत्स्वरूप इतना सुलभ नहीं हैं जिसको पूजक जब चाहे उठाले, जब चाहे स्नान करादे, जब चाहे वस्त्र पहनादे, जब चाहे भोग लगादे और जब चाहे शयन करादे। पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी इन चारों स्वरूपों को मानते हुए

अर्चा-स्वरूप की विशेषता

† 'अनादिमायया सुप्तः'

किसी में भी अर्चा-स्वरूप की सी सुलभता नहीं है। अर्चा-स्वरूप के संबन्ध में यह प्रश्न हो सकता कि 'सर्वव्यापक' को किसी एक विशेष स्थान में कैसे माना जासकता है? क्या ऐसा मानने से उसका महत्त्व संकुचित नहीं होता? सुनने में तो यह प्रश्न विकट दीख पड़ता है, किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो सर्वव्यापक है वह किसी भी स्थान विशेष में हो सकता है। यदि वह सर्वत्र है तो स्थान विशेष पर उसे न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। उस स्थान को उससे शून्य मानना असंगत है। इससे भगवन्महत्त्व संकुचित नहीं होता, प्रत्युत अनेक लोगों की योग्यता को (जो अनेक कारणों से संकुचित रहती है) अपने अनुकूल लाभप्रद भगवत्स्वरूप मिल जाता है।

अर्चा-स्वरूप की व्यावहारिकता

यह सब जानते हैं कि हम सब संकेत के अनुसार व्यवहार करते हैं—भोजनालय में भोजन करते हैं, शौचालय में शौच जाते हैं, पाठशाला में पढ़ने जाते हैं और चिकित्सालय में नीरोगता प्राप्त करने के लिए जाते हैं। यह सब व्यक्तिगत व्यवहार की महिमा है। माना कि भोजनालय, शौचालय, पाठशाला, चिकित्सालय आदि हमारे बनाए हुए ही संकेत हैं, किन्तु प्रत्येक का स्वकीय महत्त्व है। उसी महत्त्व की रक्षा के लिए हमें मर्यादा में चलना पड़ता है। मर्यादा को तोड़ने में व्यक्ति स्वतंत्र है, किन्तु उत्तमता के मूल्य पर यदि मर्यादा तोड़कर भोजनालय को कोई शौचालय बनाले तो निकृष्टता अनिवार्य है। इसी प्रकार पाठशाला में चिकित्सा के लिए और चिकित्सालय में अध्ययन के लिए जाना निष्फल एवं व्यर्थ होगा। यह कहा जा सकता है कि पाठशाला में चिकित्सा की सामग्री और चिकित्सालय में पढ़ने की सामग्री का अभाव ही असफलता का कारण होगा, किन्तु सर्वव्यापी होने के कारण भगवान् का अभाव कहीं नहीं हो सकता। बात तो ठीक है, किन्तु हम लोग 'एकदेशीय व्यक्ति' और 'संकुचित

ज्ञान वाले' हैं, अतएव सर्वत्र समान व्यवहार करने के योग्य कहाँ हैं ? केवल कहना और बात है और आचरण और बात। मर्यादा-संकेतों के बिना सब काम नहीं चल सकते। यदि कदाचित् सब काम यों ही सुगमता से चल जाते तो भगवान् को यह आवश्यकता ही न होती कि वे पार्थ को (गीता में) 'व्यक्तिगत ब्यवहार' बतलाते। फिर वे क्यों आज्ञा करते कि 'नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं ही हूँ, धातुओं में सुवर्ण मुझे ही समझो, वृक्षों में पिप्पल मुझे मानों, और मनुष्यों में राजा को मेरा स्वरूप समझो।' यह व्यक्तिगत व्यवहार नहीं तो क्या है ? यह मनुष्यों के कल्याण के लिए है। ईश्वर सब नक्षत्रों, सब धातुओं, सब वृक्षों और सब मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान है। फिर भी श्रीकृष्ण ने व्यक्तिगत व्यवहार का उपदेश किया है जो परिमित व्यक्तियोग्यता के अनुरूप ही है।

मूर्तिद्वारा संकेत

याद रहे कि भगवान् के असंख्य गुणों में से जितने मूर्ति-दर्शन से स्मृतिगत होते हैं उनके कारण वही साकार संकेत हैं जो मूर्ति में रहते हैं। कहना न होगा कि भगवान् के अर्चा-स्वरूप के द्वारा ही जीवों के ध्यान को साकार-संकेतों के साथ-साथ भगवद्गुणों पर जाने की योग्यता प्राप्त होती है क्योंकि भगवान् में अनन्त कल्याण-गुण व्यष्टि-रूप से विद्यमान हैं जिनको समष्टि रूप से गुणी के आकार सहित बोध कराने वाला यही (अर्चा) स्वरूप है। कवि ने ठीक ही कहा है कि "जिसके पास जैसी वस्तु होगी तदनुरूप ही मन होजायगा, चाहे परीक्षा करके देखलो : माला हाथ में होने पर भगवन्नाम लेने को मन होगा और गिलोल हाथ में होने पर किसी पर निशाना लगाने को मन होगा।" †देखने की बात है कि आपकी बनाई हुई और आपकी ही प्रतिष्ठा की हुई भगवान् की मूर्ति

---

†जैसी जापै वस्तु है, तैसा ही मन होय।
माला और गिलोल को कर ले देखो कोय॥

आपके मन को अन्यत्र न लेजाकर भगवान् में लगाती है।

मूर्ति-दर्शन से ऐसे लोगों का भी मन, जो मूर्ति को काष्ठ या पाषाण मानते हैं और निन्दा करते हैं, भगवान् की ओर चला जाता है। यदि उनका मन उस ओर नहीं जाता है तो वह निषेध वा खण्डन किसका करते है? चित्त संकेत के साथ लक्ष्य पर ही जाता है, किन्तु उत्तम संस्कार बिना उत्तम भाव नहीं हो सकता। क्या उत्तम भाव से पूजन करने वाले इस बात को नहीं जानते कि मूर्ति काष्ठ पाषाण की है? अवश्य जानते है, परन्तु भगवान् 'जगत: सेतु' की उनके प्रति अनुकूलता है। इससे उनकी दृष्टि भगवान् की ओर जाती है। जिनके संस्कार दूसरे प्रकार के है उनका चित्त काष्ठ-पाषाण की भट-भीड़ में उलझ कर संकेतनीय की व्यापकता को ग्रहण नहीं कर पाता।

मूर्तिद्वारा मन का संग्रह

दैनिक अनुभव की बात है कि 'लीलानुकरण' के प्रेमी लोग अर्चा-स्वरूप से कितना लाभ उठाते हैं। वल्लभकुल की मर्यादा के अनुपालक वात्सल्य भाव से भगवत्सेवा करते हैं। जिस पुत्र-भाव से नंद-यशोदा ने ईश्वर के साथ प्रेम किया था, वे भगवान् की मूर्ति की सेवा द्वारा अपने में उस भाव की पूर्ति करते हैं। इस भाव में मग्न होकर वे अलौकिक आनन्द लूटते हैं। माता-पिता जानते हैं कि पुत्र कितना प्यारा होता है। कभी मन चाहता है कि लाल को स्नान कराके टोपी पहनावें, कभी यह विचार करके कि देर से कुछ खाया नहीं है इसे कलेवा करावें, कभी खेलने के लिए खिलौना देने का विचार होता है और कभी अतिकाल से होने वाले कष्ट का ध्यान करके उसे रात्रि में समय पर सुलाने की व्याकुलता होती है। इस प्रकार अपने पुत्र में संचार करने वाले वास्तविक प्रेम को नारायण में निहित करने के लिए उपासक जन बाल-भाव की उपासना करते है और बालकृष्ण की मूर्ति द्वारा उसकी अनेक प्रकार की सेवा से

मूर्ति और लीलानुकरण

परम सुख के भागी होते हैं। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त लोग 'प्रिय-प्रिया' के युगल स्वरूप की उपासना करते हैं। इस पद्धति के प्रेम में श्रृंगार रस के मधुर प्रवाह की अनुपम छटा छलकती रहती है। उसके एक अंग की झाँकी श्री जयदेव के गीत-गोविन्द में मिलती है। रसखान का यह सवैया भी उसी रस से पूर्ण हैः—

ब्रह्म में ढूँढि पुरानन गानन वेद ऋचा पढ़ि चौगुने चायन ।
देख्यौ सुन्यौ न कहूँ कबहूँ वह कौन स्वरूप है कैसे स्वभायन ।।
हेरति हेरति हारिपरी रसखान बतायौ न लोग लुगायन ।
देख्यौ दुरयौ वह कुंज-कुटीर में बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन ।।

भगवान् का अर्चा-स्वरूप उपासना एवं पूजा की वस्तु है। भगवान् की उपासना के लिए पूजा-भाव अनिवार्य है। पूजा सम्मान को कहते हैं। जिसकी मूर्ति पूजी जाती है, स्पष्टतः उसका सम्मान हमारे हृदय में निहित है। सम्मान का फल सम्मान्य की प्रसन्नता है। कहा जाता है कि किसी राज्य में कोई पुरुष वहाँ के राजा की मूर्ति बना कर उसको एक सुन्दर स्थान में सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर बड़े प्रेम से उसका नित्य पूजन करने लग गया। कुछ काल के अनन्तर राजा को विदित हुआ तो राजा स्वयं उसको छिप कर देखने आया और उसकी अगाध भक्ति को देखकर वह दंग रह गया। वह उसके भाव में अपना सम्मान पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसके नाम गाँव का पट्टा कर दिया। उसने यह तनिक भी विचार नहीं किया कि मूर्ति उसकी सच्ची प्रतिकृति थी भी या नहीं। जब लौकिक प्रेम की यह करामात है तो अलौकिक प्रेम का तो कहना ही क्या ? यदि सर्वज्ञ करुणानिधान अपनी पूजा से प्रसन्न होकर स्व-लोक (वैकुण्ठ) में बुलालें तो असम्भव क्या है ? हाँ, उनके प्रति पूजा-भाव दिखावटी नहीं होना चाहिए, वास्तविक होना चाहिए।

पूजा की अमोघता

द्वितीया का चंदा दिखाने वाले कहा करते है—'चंदा सामने

दीख रहा है। उस नीम की टहनी पर देखो।" वास्तव में वह उस टहनी पर नहीं है। उससे सहस्रों मील दूर है, किन्तु टहनी के सम्बन्ध से वह दृष्टिगोचर हो जाता है। इसी प्रकार मूर्ति भगवान् के मिलाने का साधन है। साधन के अभाव में साध्य का विचार क्लिष्ट कल्पनामात्र है।

साकार रूप की उत्कृष्टता

इसमें सन्देह नहीं है कि भगवान् का साकार स्वरूप अति उत्कृष्ट है। ऊँचे सेऊँचा काम उसी से सम्पन्न होता है। अग्नि सर्व-व्याप्त है। इस जगत् के एक-एक परमाणु में वह अव्यक्त रूप से रहती है, किन्तु अनेक व्यवहारों में अव्यक्त अग्नि से काम नहीं चलता। जब दियासलाई के रगड़ने से अग्नि का साकार रूप प्रकट होता है तो तिमिर-तोम का निवारण होकर अनेक अन्य कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सच्चे प्रेम की दियासलाई रगड़ने से प्रभु अपना साकार रूप प्रकट करते है। जो कृतकृत्यता प्रभु के व्यक्त रूप से संभवनीय है, वह अव्यक्त रूप से नहीं।

मूर्तिपूजा और मनुष्यपूजा

कुछ लोगों का यह कहना भी है कि मूर्ति में ईश्वर-बुद्धि रखने की अपेक्षा जीवित मनुष्य में रखना कहीं अच्छा है,। इस कथन में कोई त्रुटि नहीं है। अनेक धर्मों में गुरु में ईश्वर बुद्धि रखने की बात का भी यही अभिप्राय है। जिनकी गुरु में ईश्वर-बुद्धि स्थिर होजाती है, वे परम धन्य हैं, किन्तु अर्चा में कुछ और बातों की आवश्यकता भी होती है। उनकी पूर्ति काष्ठ, पाषाण आदि द्वारा होजाती है। काष्ठपाषाणादि में यह योग्यता है कि अनेक उपासक अपनी-अपनी भावना एवं रुचि के अनुसार उनकी ठीक-ठीक मूर्ति बनवा कर पूजन कर सकते हैं। विशेषता की बात यह है कि अनेक पूजकों के प्रति मूर्ति की ओर से कोई व्यावहारिक वैषम्य संभव नहीं है, किन्तु मनुष्य के व्यवहार मे समभाव के विच-लित होने का भय रहता है। आज किसी मनुष्य के प्रति ईश्वर-

बुद्धि आप रख सकते हैं। कुछ समय तक आपका प्रेम प्रिय के गुणों को पकड़ कर वृद्धि कर सकता है, किन्तु प्रतिकूल चरित्र देखने पर प्रिय के प्रति ग्लानि को जन्म मिलना कठिन नहीं है। तब प्रेम घृणा में परिवर्तित होजाता है। घृणा के साथ-साथ ईश्वर-बुद्धि का निर्वाह कैसा ? अतएव मानव में ईश्वर-बुद्धि रखने पर उक्त अनिष्ट की संभावना है, किन्तु मूर्ति (पाषाणादि की मूर्ति) में उसकी किंचित् संभावना नहीं है।

भोगादिक की आवश्यकता

उपासक लोग यह जानते हुए भी कि मूर्ति कुछ खाती नही है और ईश्वर उनके भोग पर ही निर्भर है, भोगादि की आयोजना करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ईश्वर-भक्तों का सेवा-स्वरूप होता है। उनका लक्ष्य स्वामि-कैंकर्य मे पूर्णतः प्रवृत्त होना चाहिए। यदि दास पूर्णतः स्वामि-कैंकर्य-प्रवृत्त नहीं होता तो उसका दासत्व कैसा ? दासत्व-भाव का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि स्वामि-कैंकर्य में तभी प्रवृत्त होना चाहिए जबकि स्वामी को उसकी इच्छा हो। स्वामी के उदासीन होने पर भी जो सेवा करता है, सच्चा सेवक तो वह है; अन्यथा यथार्थ कैंकर्य में न्यूनता के कारण किंकर के स्वरूप में न्यूनता आती है। प्रभु तो 'अवाप्तसमस्तकाम' हैं। उनकी कोई ऐसी वाञ्छा नही है जिसकी तृप्ति अवशिष्ट हो। सोचने की बात है कि जिसके उदर में अनेक ब्रह्माण्ड प्रस्तुत हों उसकी क्षुधा- निवृत्ति हमारे चढ़ाये हुए आधसेर पक्वान्न से क्या कभी होसकती है अथवा जिसके भय से अनेक सूर्य तपते रहते हैं उसके लिए हमरे जलाए हुए एक छोटे से दीपक का क्या महत्त्व हो सकता है ? ईश्वर के अप्रमेय ऐश्वर्य में व्यक्तिगत उपहार की तुच्छता स्वयंसिद्ध होते हुए भी, दास-स्वरूप की योग्यता के रक्षण में उसका अवमूलन (Undervaluing) नहीं किया जा सकता, क्योंकि भगवान् के करुणा-स्वरूप की संगति में उपहार का कोई मूल्य नहीं हैं। मूल्य है उपहार की अमंद एवं परिपूर्ण भावना का। 'पत्रं

पुष्पं फलं तोयं' आदि से भगवान् कृष्ण ने स्वयं 'भाव की उत्कृष्टता' का प्रतिपादन किया है। भाव के भूखे भगवान् अपने भक्त के वश में केवल भाव के कारण रहते है, उपहार के कारण नही।

जब हम मूर्ति के सामने भोगादिक निवेदन करते है तो हमारा अभिप्राय पाषाण को भोग समर्पित करने का नहीं है। यदि काष्ठ-पाषाण का पूजन करते तो मूर्ति के सामने हाथ जोड़ कर ऐसा न कहते कि 'आप सर्वेश्वर हो, सर्वान्तर्यामी हो, करुणानिधान और सर्वज्ञ हो,' अपितु यह कहते कि 'आप अमुक पर्वत की शिला हो, अमुक वृक्ष की लकड़ी हो, आपको शिल्पी या बढ़ई ने बड़े श्रम से बनाया है,' इत्यादि। सचतो यह है कि अर्चावतार भगवान् के पूजन को 'मूर्ति-पूजन' कहना आज-कल की बोल-चाल है। वस्तुतः तो यह मूर्ति में ईश्वर का पूजन है। मूर्ति को अचेतन मानने पर भी उसे भगवद्विग्रह से अलग नहीं कर सकते, क्योंकि अचेतन भी तो भगवान् ही का शरीर है और शरीर की सेवा से शरीरी को प्रसन्नता हुआ ही करती है। अर्चा-स्वरूप जड़के भेद में ही नहीं, अजड़ के प्रत्यक भेद में परमात्मा कहा गया है। उसके पाँच स्वरूपों में से यह एक है। उसके प्रताप से अपने 'दासत्व' का निर्वाह इस प्रकार होता रहता है कि 'भोग पहले स्वामी को लगे, पीछे दास को; सुगंधित द्रव्यादि सुख-सामग्री पहले स्वामी को समर्पित हो और पीछे अवशिष्ट दास को। यह योग्यता भगवान् के अर्चा-स्वरूप में काष्ठ-पाषाण-बुद्धि करने से बिगड़ जायगी। भगवान् के पाँच स्वरूपों में से पर, व्यूह और विभव स्वरूप तो सदैव लोगों के सामने आने से रहे और अन्तर्यामी को स्वामी मानकर व्यक्तिगत सेवा करने में लोगों का प्रेम नहीं है। अब रहा भगवान् का अर्चा-स्वरू। इसी 'अर्चा भगवान् जगतः सेतु' में नित्य-सौलभ्य गुण विद्यमान है। यही एक ऐसा स्वरूप है जिसकी सेवा उपासक अपनी रुचि के अनुसार कर सकता है। यदि कदाचित् इसी में दुर्भाव होजाए तो फिर रहा ही क्या ? बड़ी हानि होगी। इस पुल के आश्रय से

अद्यपूर्व अनन्त जीव पार उतर गये हैं । इसके बिना पार उतरना बड़ा कठिन है । मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिलता है । इसको पाकर यह उचित नहीं है कि अभूत या असंभव भ्रमों की कल्पना कर पुल के आश्रय को छोड़दिया जाए ।

भगवान् की मूर्ति को लगाया हुआ भोग व्यर्थ नही जाता । पूजक और अन्य लोग श्रद्धापूर्वक उसे प्रसादरूप में प्राप्त करके तृप्ति-लाभ करते हैं । जगदीशपुरी आदि तीर्थों में भगवद्भोग का विशाल आयोजन किया जाता है । उसे व्यर्थ ढकोसला कहना व्यर्थ है । प्रत्यक्षत: वह पुण्यक्षेत्र उस भोग के प्रताप से ही बना हुआ है । भोग से व्यावहारिक पक्ष की सफलता को देख कर उसके माहात्म्य की विलक्षणता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि दीन-क्षुधार्तो को मूल्य-विना या थोड़े मूल्य में ही क्षुधा-निवृत्ति के लिए समुचित भोजन मिल जाता है । थोड़े से पैसों में भात की पत्तल या हँडिया खरीदते हुए यात्रियों की आँखों से भी भोग के माहात्म्य की विलक्षणता नहीं हटती । भोग की जो मर्यादा लाखों क्या, असंख्यो दीन-दुखियों की प्रचण्ड जठराग्नि के प्रशमन का साधन हो, उसको——अन्न-दान की उस मर्यादा को——व्यर्थ, निष्फल आदि विशेषणों से विमानित करना अनुचित है ।

मूर्ति-प्रतिष्ठा से लौकिक लाभ

मंदिर में भगवद्दर्शन अथवा कैंकर्य के निमित्त जो लोग आते हैं वे पट खुलने से पहले जितनी देर वहाँ ठहरते हैं, बड़ी उत्तमोत्तम बातें करते हैं । वहाँ कही हुई बातों का गहनांकन उनके स्मृति-पटल पर होजाता है । वहाँ कही हुई वाणी को वे कर्म में प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं । मंदिर में घुसने पर परिक्रमा देते हैं जो स्वास्थ्य के लिए हितकर सिद्ध होती है । अर्चा, दर्शन और स्तुतिकाल में मनुष्य सांसारिक उपद्रवों से मुक्त रहता है । जल, धूप, चंदन, अगरबत्ती, पुष्प आदिक से रहने वाली शुद्धता का भी उपासक लोग लाभ उठालेते हैं ।

भगवत्परिचर्या में उपासक लोग (किंकर लोग) जो कुछ करते हैं वह कैंकर्य-भाव से करते हैं, अपने लिए नहीं करते। यह सत्य है कि संसार में कर्म-जाल सब से विकट है। इसके भेद की ग्रन्थि सहज ही में खुल कर, जिन उत्सव-चरित्रों द्वारा दास-लोगों के चित्तों पर कर्म-समर्पण का भाव ठीक-ठीक जमा रहे, वे चरित्र अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं। भगवदधिष्ठानपूर्वक ऐसे उत्सवादि न करने से ये भाव कैसे जम सकते हैं ? कहना न होगा कि उत्तमोत्तम भावों के अर्जन में अर्चा-स्वरूप ही सहायक है। न तो हम सब उपासक ही जड़ हैं और न उपास्य परमात्मा ही जड़ है। वह अन्तःकरण के प्रेम के अनुरूप सदैव फल देता रहता है। यह जानते हुए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भगवान् के अर्चा-स्वरूप के द्वारा वैकुण्ठनाथ की प्राप्ति अनेक प्रकार से होती है। इस विषय में शास्त्र सहायक है। वेद वाक्य है–"हरि ओ३म् मुमुक्षुर्वै प्रतिमायां दारुमय्यां प्रस्तरमय्यां धातुमय्यां पूर्णां देवनःमावाहयेदर्चयेन्निवेदयेत्तन्निवेदितमन्नं भुञ्जीयात् तस्यैतद्वृत्तं सोऽश्नुते सर्वान् भोगन् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसे न सवर्गेणलोकेन ।" अर्चा-स्वरूप के बिना पाद-सेवन और अर्चन (जो भक्ति के अंग हैं) का निर्वाह संभव नहीं है। अर्चा-स्वरूप के सेवन से साकार पर-स्वरूप का सामीप्य होता है, ऐसा कहा गया है। इसमें उपासना नाम की संगति है। 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ बैठना है। यह समीप बैठना साकार स्वरूप के विना संभव नहीं है। वह साकार स्वरूप साधन अवस्था में 'अर्चा' है और साध्य अवस्था में श्रीवैकुण्ठनाथ हैं। अर्चा-स्वरूप के समर्थन में भीष्म जी का यह निर्णय है–"मेरी राय में सब धर्मों में अधिकतम धर्म यह है कि मनुष्य सदा अनेक स्तवों से भक्ति-पूर्वक श्री पुण्डरीकाक्ष का अर्चन करे।"* भीष्म जी के इस वाक्य

भगवान् की सवारी निकालने और उत्सव आदि मनाने से लाभ

***एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।**
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥

में 'पुण्डरीकाक्ष' और 'नर' शब्द आया है। 'परमधाम, नित्य, अक्षर और अव्यय को पुण्डरीक कहते हैं।''† वहाँ पहुँचे हुए जीवों को जिस साकार दिव्य मंगल विग्रह के दर्शन होते हैं, उसको पुण्डरीकाक्ष कहते हैं। 'नर' शब्द सामान्य मनुष्य का बोधक है। सामान्य मनुष्य सदा वैकुण्ठनाथ का अर्चन कैसे कर सकते हैं। वे तो माया-मण्डल में स्थित हैं। इससे यह अभिप्राय है कि पर-स्वरूप और अर्चा-स्वरूप का सदैव इतना अभेद समझे रहना चाहिए कि अर्चा-स्वरूप की सेवा करने से अवश्य ही वैकुण्ठनाथ मिलगें। ये दोनों ही स्वरूप साकार हैं। एक साधनावस्था में प्राप्य है, और दूसरा साध्यावस्था में।

रूप-माधुरी और उसका उचित उपयोग

एक उत्सव में भाँड अपनी लीला दिखा रहे थे। उनमें से एक ने गाया—'इलाही तूने हसीनों को क्यों किया पैदा, कि इनकी जात से दुनिया में इन्तज़ाम नहीं।' अर्थ स्पष्ट है कि 'रूप-सौन्दर्य के क्षेत्र में प्रबन्ध (नियंत्रण) दुःसाध्य है। सुख की उन्मत्त दशा आ जाती है।' फिर क्यों नहीं भगवान् की मनोहर मूर्तियों द्वारा माधुर्य-भाव की उपासना को स्थिर रक्खा जाए? रूप-सौन्दर्य में ऐसी शक्ति है कि आँखें टकटकी लगाए रह जाया करती हैं, निरखते-निरखते अघाती नहीं। जिनकी आँखों में रूप-माधुरी समा जाती है उनको लोग 'हुस्नपरस्त' या 'माधुर्योपासक' कहा करते हैं। माधुर्य-भाव 'मधुर' के प्रति होता है। 'मधुर' विशेषण है जो विशेष्य की अपेक्षा रखता है। विशेष्य के विशेषण का लाभ उठाना ही बुद्धिमत्ता है। निर्झरिणी की प्रपात-शक्ति का सदुपयोग ही कल्याणकारी होता है। उसका दुरुपयोग भी हो सकता है, किन्तु वह विनाशक होगा। अनुकूल रेलगाड़ी में बैठ कर यात्री अभिगम्य स्थल पर पहुँच कर रहेगा, किन्तु प्रतिकूल रेलगाड़ी उसे

---

† पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षरमव्ययम्।
तद्भक्तानामक्षिभूत पुण्डरीकाक्ष ईरितः॥

उस स्थल से निरन्तर दूर ही लेती चली जायगी। यदि रेलगाड़ी का सदुपयोग करना है तो उसके आनुकूल्य से काम लेना होगा। आनुकूल्य यथार्थ का साधक है और प्रातिकूल्य बाधक। माधुर्योपासकों की साधना मानुषी रूप पर टूट पड़ने का अभ्यास कराती है। यही उनकी साधना का प्रातिकूल्य एवं दुरुपयोग है: अयथार्थ की सिद्धि है। उसे श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर लगा कर देखो। कितना शीघ्र बेड़ा पार होता है!

श्रीकृष्ण नाम की विशेषता

यों तो नारायण, पुण्डरीकाक्ष, चक्रपाणि के अनन्त रूप हैं, परंतु उनमें सौन्दर्य-सीमा (विभव-कोटि में) श्रीराम और श्रीकृष्ण, ये दो ही हैं। इनमे भी अमर्याद प्रेम-पाश से आकर्षण करने की शक्ति श्रीकृष्ण-रूप में ही विशेषता से पाई जाती है: उन श्रीकृष्ण के रूप में जिनको त्रिभंगीलाल, नटनागर, वनमाली, बाँकेबिहारी, मदनगोपाल, रसिकविहारी और वंशीधर आदि छबीले (शोभन) नामों से बोलते हैं और जो गोविन्द, गोपीनाथ, घनश्याम, दामोदर, नवनीतलाल, नन्दनन्दन, पार्थ-सारथी, यशोदानन्दन, राधावल्लभ और वेगुगोपाळ आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनमें परकीयाभाव तक की उपासना भी चलती है तथा जिनमें उपासक लोग अद्भुत-अद्भुत भाव अर्पण करते हैं। कोई कहता है, "हे जगदीश! मैं आपको भेंट देना चाहता हूँ, परन्तु जिस वस्तु का आपके पास अभाव हो वह देना अच्छा है; किन्तु अभाव तो आपके पास किसी वस्तु का दीखता नहीं है; हाँ, एक मन का अभाव अवश्य हो सकता है क्योंकि उसको तो राधा ने चुरा रक्खा है; इसलिए, हे यदुनन्दन! मैं वही मन आपकी भेंट करता हूँ; उसे स्वीकार कीजिए"। कोई कहता है—"हे दीनदयालु! मैं तो टेढ़ी बातें ही करूँगा और कुटिलता नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि आप टेढ़ी टाँगवाले, तीखे नेत्रवाले, और मोर-मुकुटवाले त्रिभंगीलाल हैं। सीधे हृदय में आप कैसे निवास करोगे? दुःख पाओगे।" कोई कहता है—"हे नन्दलाल! चोर

अपने छिपाने को अँधेरा खोजा करता है; आपने दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी कर के चोर-पदवी धारण की है और जैसा घोर अन्धकार मेरे मन में छा रहा है वैसा अन्यत्र न मिलेगा। फिर इसमें आकर क्यों नहीं छिप जाते हो ?" कोई कहता है—"आप गोपाल हो ! आपके पास बहुत दूध मिलेगा, यह सोच कर मैं आपकी शरण में आया हूँ, किन्तु यहाँ तो कुछ उलटी बात ही दीख पड़ती है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि माँ का दूध भी आगे न मिल सकेगा।" ऐसे ही अनेक भावों को भक्त कृष्ण को अर्पित करते हैं जिनमें सब प्रकार के प्रेम-भाव समा जाते हैं। कालिन्दी-कूलकन्दुक-क्रीड़ा-रत, कदम्ब-केलिकर, कालीय-कन्दन, कंस-निकन्दन, क्लेश-निवारक, कुसुम-सुकुमार-हास, कृपालु कृष्ण से विशेष लीला रूपवान् कोई कलेवर नहीं है। उनके लावण्य से असंख्य कामदेव लज्जित होते है। वे अभिनव-जलधर-सुन्दर हैं। रूप-सौन्दर्य की अत्यन्त वेग-वती सभी नदियाँ कृष्ण-रूप-माधुरी के सागर में विलीन होती हैं। उनकी छवि-माधुरी को निहारते-निहारते मन कभी तृप्त नहीं होता। उनकी लीला (कृति-गति) में एक अद्भुत मोहन-मंत्र है।† राधा ने उसी मोहनी मूर्ति पर सर्वस्व अर्पण कर दिया था। इसी से उनको अपूर्व पद मिला है। इस तथ्य को भारतेन्दुजी ने इस प्रकार गाया है—

"जय वृषभानु-नन्दिनी राधा,
शिव ब्रह्मादि जासु पद-पंकज
हरि-वशहेतु अराधा"

राधा की प्रतिष्ठा कृष्ण की शक्ति के रूप में हो चुकी है। राधा की चरण-रज की सरसता, सुखदता, लोकपावनता और वश-कारकता की प्रशंसा करते हुए अलवर के जयदेव कवि कहते हैं—

---

† किसी शायर ने क्या ही अच्छा कहा है—

क्यों इस अदा से आये कि प्यार आ गया मुझे ?
यह आपका क़सूर है, मेरी ख़ता नहीं ।

"ब्रह्मरुद्र भीषम वसिष्ठ शुक नारदादि साधत अखंड भक्ति सुख सरसावनी।
तेऊ जाहि सहसा निहारि न सकत क्योंहूँ जोगिन दुराय ज्योति जाकी जगपावनी ।।
कवि जयदेव भनै ताही परब्रह्म काज सद्य वशकारक है भुरकी सुहावनी।
धारि रही ऐसी अति अद्भुत भगत नगिन राधे पद-पकज की रज मनभावनी।"

कृष्ण की रूप-माधुरी से मंत्रमुग्ध स्नेह-नगर में सरे आम लुटती हुई गोपियाँ चौथ के चन्दा से कहती हैं—"तुम्हारे दर्शन करनेवाले को कलंक अवश्य लगता है। तुम्हारी यह कीर्ति सुन कर ही हमने तुम्हारे दर्शन किये हैं। हमें श्रीकृष्ण का कलंक अवश्य लगना चाहिए। कृष्ण-प्रेम के मद मे उन्मत्त गोपियाँ कहती हैं—"च हे सब बान्धव परित्याग कर दें, अथवा गुरु-जन निन्दा करें, तो भी मेरे जीवन तो परमानन्द गोविन्द ही रहेंगे।"‡

अन्यत्र गोपी कहती है कि—"मेरा मन कृष्ण के चरणारविंद से एक क्षण भर के लिए भी निवर्तित नहीं होता है; प्रेमधर-अनुराग मुझे ऐसा मत्तायमान कर दे कि मुझे चिन्ता न हो। चाहे प्रिय बान्धव निंदा करें, गुरुजन ग्रहण करें या परित्याग करें, लोग दुर्वाद परिघोषित करें और चाहे वंश को कलंक लगे।"¶

कृष्ण ने इसी प्रेम का परिचय प्राप्त कर के गोपियों के साथ कैसी-कैसी लीलाएँ की है, यह भागवत् के पाठकों से छिपा नहीं है।

इस सब कहने का आशय यह नही है कि राम की रूप-माधुरी और मोहन-शक्ति कृष्ण से कुछ कम है। अपने-अपने ढंग से दोनों ही अद्वितीय हैं। रघुनन्दन कर्तव्यपरायणता और धर्ममर्यादा की प्रतिमूर्ति हैं। उनसे बढ़ कर सदाचार का आदर्श और किसी को

---

‡ "त्यजन्तु बान्धवा सर्वे निन्दन्तु गुरवो जनाः।
तथापि परमानन्दो गोविन्दो मम जीवनम्।"

¶ चित्तं नैव निवर्तते क्षणमपि श्रीकृष्णपादाम्बुजात्।
निन्दन्तु प्रियबान्धवा गुरुजना ग्रण्हन्तु मुञ्चन्तु वा।
दुर्वादं परिघोषयन्तु मनुजा वंशे कलंकोऽस्तु वा।
तादृक् प्रेमधरानुरागमधुना मत्तायमानन्तु मे ।।

नहीं कहा जा सकता। श्रीकृष्ण भी स्वयं प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम-पाश डालने में अद्वितीय हैं। राम दाना हैं, कृष्ण मस्ताना हैं जिन्होंने किसी को अपनी छवि माधुरी में फँसा लिया, किसी को वंशी से मोह लिया, किसी पर अपने सरस चरित्रों का जादू कर दिया और किसी को ऐसा उन्मत्त बना दिया कि उसने अपनी सुध-बुध भूल कर पैरों के वस्त्राभूषण शिर में और शिर के पैरों में पहन लिये। लोक-लज्जा हवा हो गई। ऐसे इन्द्र-जाल के आकर में मर्यादा की खोज करना व्यर्थ एवं मूर्ख प्रयास है।

जगत् में दो भाव प्रधान रूप से विलसित है—प्रेम और घृणा। प्रेम दो व्यक्तियों के बीच की दूरी को मिटा कर समीप कर देता है और घृणा सान्निध्य को मिटा कर दो व्यक्तियों को दूर कर देती हैं। कृष्ण प्रेम-स्वरूप होने से आकर्षण करते हैं। जीवों का भगवद्दासत्व सिद्ध है, परन्तु वे प्रायः प्रेम के आचरण से तथा वैकुण्ठ-नाथ की प्राप्ति से दूर रहते हैं। उनको कृष्ण अपनी रूप-माधुरी, वंशी-ध्वनि, अथा रसिक-चरित्रों से प्रेम-मुग्ध कर के अपनी ओर खींच लेते है। ध्यान देने की बात है कि भगवान् का सौशील्य गुण भी (जो उनके चार गुणों में से एक है) विशेषतः नन्द-नन्दन ही के चरित्र में चरितार्थ होता है। बड़े का छोटों के साथ अभेद-भाव से मिलना ही तो सौशील्य है।† इस सौशील्य को कृष्ण के प्रेममय चरित्र में इस प्रकार देख सकते हैं कि इधर तो "कृष्ण स्वयं भगवान् हैं"‡ और उधर नन्द गोपमात्र हैं। यह उनका सौशील्य है कि वे नन्द गोप के आतमज होकर अवतीर्ण होते हैं।¶ उनसे अभेद भाव से मिलते है कि कोई अन्तर नहीं रखते। यही बड़े का छोटे से निरन्तर होकर मिलना है। यही उनका सौशील्य है।

---

† "महतो मन्दैस्सह नीरन्ध्रेण संश्लेषः सौशील्यम्।"

‡ "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

¶ "नन्दगोपप्रियात्मजः"

किन्तु राम के स्वरूप में यह रहस्य-भाव अंगीकृत नहीं हो सकता, क्योंकि उनका स्वरूप मर्यादा का है। इस भाव का उस स्वरूप में अंगीकृत होना स्वरूप-विरुद्ध है। राम शील-निधान हैं और कृष्ण प्रेम-निधान। भक्त कृष्ण की मधुर छवि में, उनकी लीलाओं में प्रेम की कोई कक्षा न्यून नहीं देखते। उनके विचार में दाम्पत्य (पति-पत्नी) प्रेम भी प्रायः इतना उन्मादक नहीं है। वे ऐसी नायिका का भाव भी ग्रहण करते हैं जो अपने इष्ट (प्रिय) के साथ प्रेम करती है, जिसे अपने माँ, बाप और पति के विरोध की चिन्ता नहीं है, एवं जिसने 'कुल-कान' और लोक-बन्धन को तोड़ डाला है। प्रेम का स्वभाव है कि इसके नि.संकोच संचार में जितनी बाधाएँ समुत्पन्न हों उतना ही तीव्र होता है। इसके अतिरेक का परिचय यह है कि इसके मार्ग में जितने कष्ट आते हैं वे सब सुख-पूर्वक सह लिए जाते हैं। जितनी बाधाएँ इसके प्रवाह-पथ में उप-स्थित होती हैं वे सब इसके वेग से टूट जाती हैं। बाधाओं को तोड़ कर जो प्रेम अपना मार्ग निर्मित करता है उससे उसकी शक्ति बढ़ती है। लोक-लज्जा, गुरुजन-उपालंभ, तथा लोक-निन्दा का भय आदि बाधाएँ हैं। इनको वही तोड़ सकता है जिसका मन केवल अपने प्रिय में लीन हो, जिसकी अनन्य 'लगन' हो: ऐसी कि उसके आगे अन्य सब भाव तुच्छ हो जाएँ।

पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो स्निग्ध है, किन्तु उसमें प्रणय-कोप के लिए अवकाश प्रायः नहीं होता। रसिक लोग इसकी विलक्षणता का अनुभव परकीया-भाव में करते हैं। गहनता के साथ-साथ परकीया-भाव के नुकीले प्रेम में प्रणय-कोप का भी एक विशेष सुख होता है। प्रिय के दूर रहने पर विविध विचारों का घटाटोप, मिलने के लिए एक विचित्र व्याकुलता, प्रिय की माधुरी-मूर्ति का चिन्तन, प्रिय के रूठ जाने पर अपने व्यवहार पर मधुर पश्चात्ताप, संकेत स्थान के भयमय पथ पर निर्भय गमन, ठीक समय या उससे पूर्व ही संकेत-स्थान पर जा पहुँचना, अनुराग भरे लोचनों

से पथ को झाँकते हुए प्रिय की प्रतीक्षा, मिलन-वेला के अति समीप आने पर चित्त की आकुलता की वृद्धि तथा वियोग-वेला के निकट आने पर उर-पीड़ा का अतिरेक, अभिसरण (छिप-छिप कर जाना) में सतर्कता, प्रणय-कलह में मधुराक्षेप तथा कटाक्ष-शर-संधान, वचनों के कटु होते हुए भी अन्तर की मधुर स्थिति, कभी-कभी दासत्व-स्वीकृति, अनुनय-विनय आदि अनेक शृंगारिक सुखद अनुभव इस कक्षा के रसिक उपासकों को ही होते हैं। गीत-गोविंद के रचयिता जयदेव और पदावली के रचयिता विद्यापति को अनेक आलोचक इसी कक्षा के भक्तों में मानते हैं। प्रेम की जो छटा राधा-कृष्ण के प्रेम में मिलती है, वह कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम में उपलब्ध नहीं है। एक स्थान पर परकीया-भाव है, दूसरे पर स्वकीया-भाव—एक में मधुरता, तरलता और आकर्षण है और दूसरे में उच्चता, मर्यादा और आदर्श। परकीया-भाव के उपासकों को उतना आनन्द संयोग में नही प्रतीत होता है जितना वियोग में। संयोग की वियोगोन्मुखी परिस्थितियाँ ही ऐसे भक्तों को रुचिकर प्रतीत होती है।§ इसलिए प्रणय-कलह, मान आदि की माधुर्य भाव में प्रतिष्ठा है।

जो प्रेम और मर्यादा का सम्बन्ध है वही कृष्ण और राम का भी कहा जा सकता है। कृष्ण के उद्भव के विषय में किसी कवि की ये दो पंक्तियाँ कितनी साभिप्राय हैं:—

> प्रेम जहाँ मरजाद नहीं अरु यह मरजादा सागर ।
> तिहिं रस कारण नन्द-भवन तब प्रकट भये नटनागर ।।

एक और दोहा लोक में बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जो कृष्ण और राम के स्वभाव एवं चरित्र का सजीव चित्रण करता है वह यह है:—

---

§ एक उर्दू के कवि का कहना है—

> "यों हमको प्यार करने से मिलता मजा नहीं;
> जब तक बिगड़-बिगड़ के कोई कोसता नहीं।"

सीतापति की कोठरी, चन्दन जड़ीं किवाड़ ।
ताली लागी प्रेम की, खोलें कृष्ण मुरार ।।

ठीक भी है यदि भगवान् रघुनन्दन प्रेम की ताली न लगाएँ और किवाड़ खोल दें—मर्यादा छोड़ दें, तो यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप न होगा; किन्तु इन किवाड़ों को मर्यादा से ऊपर विलास करनेवाले यदुनन्दन खोलते हैं क्योंकि वे किसी नियम में आबद्ध नहीं हैं। अन्यथा करदेने की शक्ति भी तो अलौकिक ही होती है। प्रेम को प्रेरित करनेवाली वही शक्ति कितनी दिव्य होती है, देखिये:—

"उपजा प्रेम जो हिरदै माहीं, नेम अचार रहा कछु नाहीं ।"

लोक में गुण रहने से गुणी की उत्तमता सिद्ध होती है, जैसे, सुगंध गुण रहने से पुष्प की अथवा कान्ति-गुण रहने से रत्न की। इस प्रकार गुण ही प्रधान रहा, गुणी प्रधान नही रहा; किन्तु इस तथ्य की सिद्धि भगवान् में विपरीत होती है। वह गुणी-प्रधान है। सत्य, ज्ञानादि गुण उसके आश्रय से शुभ हुए हैं। उनके गुणी-प्रधान होने से उनमें प्रक्षिप्त कोई भी दोष गुण होकर निकलता है। उनके स्वरूप ही की यह महिमा है कि उसमें पड़ते ही दोष भी गुण हो जाता है। इसी दृष्टि से किसी महात्मा ने श्री काञ्चीवरदराज के प्रति कहा है:—

"लोक में गुणी हैं। उनमें गुण का होना मंगल पद है। परन्तु हे हस्तिगिरिपते ! यह बात आप में तो फिर उलटी है। सत्य, ज्ञानादि गुण आप में आश्रय पाकर शुभ हो गये हैं। यह हम लोगों ने वेद-मर्यादा से निर्णय किया है।"¶

इस मर्यादा से प्रथम तो दोष कृष्ण में ठहरने की क्षमता ही नहीं रखते, उनमें पड़ते ही वे गुण हो जाते हैं, फिर कृष्ण को दोषी

¶ "गुणायत्तं लोके गुणीषुहि मतं मंगलपदम् ।
विपर्यस्तं हस्तिक्षितिधरपते तत्रवयिपुनः ।।
गुणास्सत्यज्ञानप्रभृतय उत त्वद्गततया ।
शुभीभूयं याता इति निरणयिष्म श्रुतिवशात् ।"

कहा ही कैसे जा सकता है ? दूसरे "पुरुष तो एक परमात्मा ही है इतर जगत् (सब) स्त्रीप्राय है। †जिस पुरुष की एक स्त्री हो उसके अतिरिक्त सब स्त्रियाँ परस्त्री कहलावेंगी, पर परमात्मा के सम्बन्ध में तो परस्त्री का काम ही नही है। अखिल जगत् उसके लिए स्त्री-प्राय है। ऐसी व्यवस्था में जिस किसी ने कृष्ण को प्रियतम बना कर पुरुष भाव से चाहा उसको उन्होंने उसी भाव से अंगीकार किया। इसमें दोष की कुछ बात नहीं है। जिस प्रकार भगवान् भक्तों के अनन्त भावों को पूर्ण करते है, उसी प्रकार अपने मोहन कृष्ण रूप में इस भाव को भी पूर्ण करते हैं। अतएव गोपियों के साथ कृष्ण की अनेक रहस्य-लीलाओं के सम्बन्ध में कई लोग जो अनेक आक्षेप करते हैं वे अज्ञतापूर्ण अभक्ति के कारण करते हैं। यदि भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो तो मनुष्य भगवान् के अलौकिक रहस्यों को भी समझ सकता है, अन्यथा उसकी लौकिक बुद्धि उन लीलाओं को नहीं समझने देती।

जो प्रेम स्वरूप हैं, रँगीले, छबीले कहलाते हैं, जिनकी कुटिल भृकुटि, कटीले लोचन, और तिरछी चितवन, मयूर मुकुट, वनमाला की छटा, टेढ़ी गर्दन, और बाँकी अदा प्रसिद्ध है उनकी झाँकी से कैसा आकर्षण होता है, यह अनुभव की बात है, कहने की नहीं।

भगवान् के अर्चास्वरूप की सुन्दरता किसी के मन को खीचती है या नहीं, इसकी किसी को परीक्षा करनी हो तो बम्बई के माधव बाग के लक्ष्मीनारायणजी तथा जामनगर के माधवरायजी के दर्शन करे और देखे कि चित्त पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

माधुर्य भाव की उपासना में गोपियों के प्रेम की ध्वजा तो सब से ऊपर फहरा ही रही है, पर मीराँ, नरसी, जयदेव, हरिदास, आदि भी इस भाव के अनन्य उपासक थे। विल्वमंगलजी तो

---

†'परमात्मा पुमानेकः स्त्री प्रायमितरञ्जगत्'

प्रत्यक्षतः सौन्दर्योपासक थे। वे लौकिक स्वरूप पर मुग्ध होकर श्यामसुन्दर के दर्शन पागये। भक्तमाल अथवा हरिभक्त प्रकाशिका में इन भक्तों की कथा सविस्तर मिलती है। ये भाव अति सराहनीय हैं और अर्चास्वरूप की छवि-माधुरी तथा सेवा द्वारा भक्त लोगों को प्रायः मिलते रहे हैं।

भगवान् गुणाकार है। उनके गुणों के वर्णन करने की शक्ति किसी मे नहीं है। फिर भी भक्तों को उनका गुण-वर्णन सदैव प्रिय रहा है। यामुनाचार्य स्वामी भगवान् के कुछ गुणों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

भगवान् के कुछ गुणों का वर्णन

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि
र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः ॥

(१) **वशी**—यह शब्द 'प्रभुता' और 'अधीनता' दोनों भावों का द्योतक है।

"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः"
'जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्।

उक्त वाक्यों से 'वशी' का गौरव प्रकट होजाता है। 'वशी अधीनः' पद से भी यह स्पष्ट है कि भगवान् अपने आश्रितों के अधीन हैं। विश्वामित्रजी के प्रति श्रीराम के वचनों से यही भाव इस प्रकार स्रवित होता है—

"इमौ स्म मुनिशार्दूल किंकरौ समुपस्थितौ।
आज्ञापय यथेच्छं वै शासनं करवाव किम् ॥

अर्थ—हे मुनिशार्दूल हम दोनों किंकर आपके सामने हैं। आप इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये। हम आपके किस आदेश का पालन करें?

इससे सिद्ध है कि जिन भगवान् के सब वश में हैं वही अपने आश्रितों के वश में हैं। इसी से उनके लिए 'वशी' शब्द सार्थक है।

(२) **वदान्यः**—इसका अर्थ है उदार। भगवान् की उदारता प्रसिद्ध है। कहा भी है—

"नित्योऽनित्यानां [illegible]।
एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

जो अकेले ही बहुतों की कामना पूर्ण करते हैं निःसन्देह वे उदार हैं।

(३) **गुणवान्**—गुण्यते, अभ्यस्यते इति गुणः (सदा अनुसंधान करने योग्य) यहाँ सौशील्य गुण विशेषता से लिया गया है। गुणवान् का अर्थ यहाँ सौशील्यवान् है। पहले ही कहा जा चुका है कि भेदभाव को मिटा कर बड़े-छोटों से मिलना ही सौशील्य गुण है। भगवान् का बड़प्पन सिद्ध है। उनका गुह, शबरी गोपालादि के साथ मिलना इसी गुण का परिचायक है।

(४) **ऋजुः**—इस शब्द का प्रयोग अकुटिल के अर्थ में होता है। भगवान् सरल हैं, कुटिल नहीं हैं। इस सम्बन्ध मे भगवान् राम के वाक्य स्वयं प्रमाण हैं। उनका कहना है—"हे सीते, मैं अपने जीवन को छोड़ दूँ, और चाहे तुमको भी लक्ष्मण सहित छोड़ दूँ, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को, (विशेषतः ब्राह्मणों के प्रति करके) न छोड़ूँ।'† इस सम्बम्ध में द्रौपदी के प्रति कृष्ण के ये वाक्य भी स्मरणीय हैं—"हे द्रौपदि! स्वर्ग गिर पड़े, पृथ्वी शीर्ण होजाए, हिमालय के टुकड़े होजाएँ, और चाहे समुद्र सूख जाए, परन्तु मेरा वचन अन्यथा न हो।"‡ ऋृजु का अर्थ आश्रितछंदानुवर्ती भी होता है।

---

† **"अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।**
नहि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

‡ **"द्यौः पतेत पृथिवी शीर्येत् हिमवान् शकली भवेत्।**
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्॥"

(५) **शुचिः**—अपहृत पाप्मा—उपकार के समय प्रत्युपकार की आकांक्षा न रखने वाला अथवा द्रव्य-तारतम्य बिना भक्तिमात्र से प्रसन्न होने वाले। भगवान् ने स्वयं स्वीकार किया है—"भक्तों द्वारा प्रेम से लाया हुआ अणु भी मुझ को बहुत होता है और अभक्त के लाए हुए बहुत से भी मेरी प्रसन्नता नहीं होती।"¶ अथवा शुचि का अर्थ है 'पावन'। 'पावन' दूसरों को पवित्र करने वाले को कहते हैं। महापुरुषों के ये वाक्य प्रमाण हैं—

"पावनस्सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन" वा
"अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
य स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं सबाह्याभ्यन्तरः शुचि।"

(६) **मृदुः**—इस शब्द का सामान्य अर्थ है 'कोमल'। भगवान् भी कोमल है क्योंकि वे अपराधी और संजातभय लोगों को सहसा आश्रयण प्रदान करने वाले हैं। भगवान् की कोमलता के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। ये शब्द प्रमाण हैं—

"विदितः सहि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि।।"

मृदु उसे भी कहते है जो आश्रित के विश्लेष को सहन न कर सके।"† भगवान् भी अपने आश्रित के विश्लेष (वियोग) को सहन नहीं कर सकते, अतएव उन्हें 'मृदु' कहना उचित ही है। प्रमाण के लिए अन्यत्र कहे हुए इस श्लोक को देखिये:—

"सकृत्त्वदाकार विलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः।
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुःसहः।।

¶ **भक्तेरण्वप्युपानीतं प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।**
बह्वप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।।

† **आश्रित विश्लेषासहण्णुः मृदुः।**

(७) दयालुः—(स्वार्थनिरपेक्ष होकर परदुःख से दुःखी होना ही दया है।) †बिना स्वार्थ बुद्धि के अर्थात् परदुःख से दुःखी होना दया है। जिन से स्वार्थ है उनका दुःख देखकर दुःखी होना दया नहीं है। स्वार्थ सापेक्षता की दशा में दया का भाव दब जाता है, इसलिए निरपेक्ष भाव दया का साथी है। 'पर' शब्द से मित्र-शत्रु से व्यतिरिक्त केवल 'उदासीन' भाव का संकेत मिलता है क्योंकि शत्रु-विषय में दया होने से पुरुष असमर्थ कहलाता है। पुत्रादि के दुःख से दुःखी होने में पुत्रत्वादि-सम्बन्ध-भावना ही मुख्य ठहरती है। इसी भाव से प्रेरित होकर मनुष्य उनकी रक्षा करता है, दयाद्रवित होकर नहीं।

'परदुःखदुःखित्वं दया'

यह कहने से शंका उठाई जासकती है कि जो परमात्मा नित्यानन्द स्वरूप है उसको दुःख कैसा ? उसको दुःखी कहने से निर्विकार श्रुति का बाध होता है; अतएव शंका वालों के मत से—

'परदुःखापाचिकीर्षा' अर्थात् 'परदुखं अपाकर्तुं दूरीकर्तुमिच्छा

परदुःख को निवारण करने की इच्छा ही दया है। यह ठीक नहीं है क्योंकि लोक में दूसरे के दुःख का निवारण करना असाध्य दीखने पर उसके मिटाने की इच्छा नहीं भी होती है, फिर भी अनेकों को पर-दुःख से दुःखी होते हुए देखा जाता है। उनको दयावान् कहा जाता है। इस व्यवहार में हानि होगी। चेतन का दुःख देखकर परमात्मा को दुःख होना, रक्षा के हेतु होने से गुण है, दोष नहीं है। कर्म से दुःख का होना दोष है। वाल्मीकि रामायण का यह वाक्य इसका प्रमाण है—"वे मनुष्यों के व्यसनों (दुःखों) में बहुत दुःखी हो जाते हैं और सब उत्सवों में पिता की तरह बहुत प्रसन्न हो जाते हैं"¶ यदि अपने लोगों के दुःख देख कर परमात्मा को दुःख

---

† 'स्वार्थ निरपेक्ष परदुःखदुखित्वं दया'

¶ "व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।"

न हो तो ऐसे कठिनप्रकृति स्वामी की शरण लेने से क्या फल होगा ? इसलिए 'स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखदुःखित्वं,' यह दया का लक्षण बहुत ठीक है। निर्विकार श्रुति का यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि परदुःख को देख कर परमात्मा को दुःख होना कर्म-प्रयुक्त-विकार नहीं है।

इसी सम्बन्ध में कुछ लोग यहाँ प्रश्न कर देते हैं कि अपनी पत्नी सीता का अपहरण हो जाने पर क्या राम को उनके प्रति दया नहीं आई ? यदि दयाभाव उत्पन्न हुआ तो वहाँ 'पत्नीत्व' सम्बन्ध था, उदासीनता कहाँ थी ? ऐसा प्रश्न करने वालों को यह समझ लेना चाहिए कि 'जानकी जी के प्रति पत्नीसम्बन्ध से राम को दया नहीं आई, शोक हुआ। एक ही व्यक्ति के प्रति अनेक व्यवहार रहने से एक-एक व्यवहार के साथ एक-एक भाव हो सकता है। 'स्त्री जाति का अत्यन्त पराभव हुआ, यह असह्य है'—इस व्यवहार-भेद से उन्हीं जानकी के प्रति राम की दया हो सकती है ; परन्तु वह पत्नीव्यवहार से नहीं कही जायगी। ऐसे स्थल में एक ही व्यक्ति के प्रति व्यवहार का विभाग होता है। इसी प्रकार पुत्र के विषय में पुत्रत्व बिना, उदासीन व्यवहार से, दया हो सकती है। रामायण में सीता के सम्बन्ध में यह व्यवहार-विभाग स्पष्ट कर दिया गया है। "स्त्रीजाति में से कोई प्रणष्ट हुई, यह भाव करुणा का है, 'प्रिया थी' यह भाव मदन-सम्बन्ध से होता है, 'पत्नी जाती रही' यह शोक है और 'वह एक आश्रिता थी' इस सम्बन्ध में अहिंसकत्व-भाव है"†

(८) **मधुरः**—'आनन्दरूपतावान्' मधुरः। इसका प्रमाण यह है—

रसो वै सः आनन्दो ब्रह्म-प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं सच मम प्रियः।

ऐसे प्रमाणों से प्रतिपादित आनन्दरूपतावान् मधुर-शब्दार्थ है। कायिक-वाचिक मधुरता भी मधुर-शब्दार्थ में आ जायगी। भगवान में कायिक मधुरता का प्रमाण यह है—

---

† स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यात् प्रियेति मदनेन च।
पत्नी नष्टेति शोकेन आश्रितेत्यनृशंसतः॥ (वाल्मीकि रामायण)

"सोमवत्प्रियदर्शन"

अथवा

"रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणः"

और वाचिक मधुरता का प्रमाण यह है—

"प्रियंवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः"।

(९) **स्थिरः**—आश्रित की रक्षा में बिना क्षोभ के स्थैर्यवाले व्यक्ति को 'स्थिर' कहा जाता है। ‡ राम की स्थिरता प्रख्यात है। अति विकट वातावरण होने पर भी विभीषण के शरण में आने पर राम ने उन्हें बिना क्षोभ के ही आश्रय और रक्षण प्रदान किया। किसो को अपनाकर दुत्कारना अस्थिर व्यक्ति का काम है। स्थिर तो मित्ररूप से ग्रहण किये हुए को छोड़ना धर्म नहीं मानता। ¶ आश्रित-रक्षण के सम्बन्ध में ऐसी स्थिरता ही स्थिर शब्द की सार्थकता है।

(१०) **समः**—जातिगुणवृत्तादि बिना सर्व-शरण्य होना ही समत्व है। गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः"।

(११) **कृती**:—कर्तव्यरहितः कृती। गीता में स्वयं कृष्ण का वाक्य है—

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्'

अथवा 'कृती' कृतकृत्य को भी कहते हैं। "लंका में राक्षस-राज विभीषण का राज्याभिषेक करके कृतकृत्य राम निश्चिंत होकर प्रमुदित हुए"।† यदि भगवत्रूप कृती न हो तो राम

---

‡ 'आश्रितरक्षणे स्थैर्यं अक्षोभ्यत तद्वान्'।

¶ मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।

† "अभिषिच्य च लंकायां राक्षसेन्द्रं विभीषणं।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वर प्रमुमोद ह:॥"

रावण के हाथों में लंका के होते हुए भी विभीषण को लंकेश न कह देते। भगवान् सत्यसंकल्प हैं, इसीलिए विभीषण का अभिषेक कर देने पर वाक्‌दान की सिद्धि हो जाने से वाल्मीकिजी ने कहा कि 'राम कृतकृत्य हो गये।' 'भगवान् जो चाहें वही हो जाए', इस कार्यकुशलता और सामर्थ्य को लेकर यह कृती शब्द है।

(१२) **कृतज्ञ**:—(उपकारज्ञः)। इस शब्द का प्रयोग उपकार मानने वाले के लिए आता है। किसी के किए हुए उपकार को सामान्यता से नहीं, विशेषता से मानना कृतज्ञ का गुण है। भगवान् उपकार को अच्छी तरह मानते हैं और कदाचित् एक ही उपकार से प्रसन्न भी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में ये वाक्य प्रमाण हैं—

"न स्मरति अपकाराणां शतमपि आत्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥"

और इसीसे धौम्य ने कहा है—

"अपां समीपे शयनासनस्थितौ
दिवा च रात्रौ च यथाधिगच्छता।
यद्यस्ति किंचित्सुकृतं कृतं मया
जनार्दनस्तेन कृतेन तुष्यतु।"

भगवान् के अनन्त गुण युक्त अनन्त नामों में से इन बारह नामों के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि राम, कृष्ण, नारायण भगवान् आदिक भगवन्नामों को छोड़ कर विश्व में इतर कोई नाम जपने योग्य नहीं है क्योंकि वे ही सब से बड़े हैं और 'परत्व' उन्हीं को प्राप्त है। ब्रह्मा से लेकर घास तक जितने प्राणी जगत् में व्यवस्थित हैं वे सब कर्मजनित जन्म-मरण के वशवर्ती हैं। इसकारण यदि ध्यानी लोग उनका ध्यान करें तो वे उपकारक सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि वे सब अविद्या के भीतर हैं और

परिणामी हैं।†

इसलिए यह विचारणीय है कि जो स्वयं अविद्या में फँसें हुए हैं, परिणामी हैं, और जीते और मरते हैं, वे चाहे कितने ही बड़े अधिकारी क्यों न हों, जब स्वयं संसार-चक्र से बँधे हुए हैं तो अन्य जीवों को उससे कैसे छुड़ा सकते हैं। इस कारण ध्यान केवल नारायण ही का करना चाहिए। व्यासजी तो इस सम्बन्ध में भुजा उठा कर कहते हैं—"मैं भुजा उठा कर सत्य, सत्य और फिर सत्य कहता हूँ कि वेद से बढ़ कर कोई शास्त्र नहीं है और केशव से बढ़ कर कोई देव नहीं है।‡ श्री शुकदेवजी ने अखिल शास्त्र-निष्कर्ष इन शब्दों में निरूपित किया है—"सब शास्त्रों का मंथन और बार-बार विचार करने पर एक यही मत निष्पन्न हुआ है कि सदा ध्यान करने योग्य एक नारायण ही है।¶

मैत्रेयजी को पराशरजी द्वारा दिये हुए इस उत्तर से भी सिद्ध होता है कि परत्व नारायण ही को प्राप्त है। कारणवस्तु की सूचना देते हुए वे कहते हैं—

'विष्णोः सकाशादुद्भूतम्'

अर्थात् यह सब विष्णु से उत्पन्न हुआ है। विष्णु ही सब के कारण हैं। वेदान्त का निर्णय भी इसी प्रकार है—

---

† आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनिताः संसार-वशवर्तिनः॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः॥

‡ "सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भुजमुत्थाप्य चोच्यते।
न वेदाच्च परं शास्त्रं न देवः केशवात्परः॥"

¶ आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

"वेदवित्प्रवरप्रोक्तवाक्यं न्यायोपबृंहिताः वेदास्साङ्गाः
हरिं प्राहुः जगज्जन्मादिकारणम् ।"

इसी के अनुरूप "जन्माद्यस्ययतः"—यह व्यास-सूत्र है। इसका मूल तैत्तिरीयोपनिषत् का यह वाक्य है—"जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है।"¶

ऊपर श्रुति और सूत्र दोनों में ब्रह्म को जगज्जन्मादि का कारण प्रतिपादित किया गया है। यहाँ ब्रह्म शब्द से क्या अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए? यह निश्चय करना है। इसके निर्णय के लिए छान्दोग्य उपनिषत् का यह वाक्य लेते हैं—

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'।

इस श्रुति-वाक्य में 'ब्रह्म' का 'सत्' शब्द से प्रतिपादन किया गया है। इससे सच्छब्द वाच्य और ब्रह्म शब्द वाच्य की एकता प्रतीत होती है, किन्तु

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत्"

इस वाक्य में उसी उपनिषत् में 'आत्मा' शब्द से कारण-वस्तु का प्रतिपादन किया गया हे, परन्तु महोपनिषत् का यह वाक्य—

"एकोह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा
नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि"

नारायण को कारण-वस्तु प्रतिपादित करता है।

ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त वाक्यों में कारण-वस्तु को 'ब्रह्म', 'सत्', 'आत्मा' और 'नारायण' कहा गया है। यह

¶ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।

नारायण शब्द भगवद्व्यक्तिविशेष में रूढ़ होने से सत्, ब्रह्म, आत्मा ये साधारण शब्द इस विशेष में पर्यवसित हो जाते हैं, जैसे पदार्थेन जलमाहर, द्रव्येण जलमाहर, पार्थिवेन जलमाहर, घटेन जलमाहर—इन वाक्यों में जलाहरण के उपकरण को पहले पदार्थ शब्द से, फिर द्रव्य शब्द से, फिर पार्थिव शब्द से, और पीछे घट शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'पदार्थ' 'द्रव्य' 'पार्थिव' शब्द घटार्थपर हैं । इसी प्रकार 'नारायण' का परत्व सम्मत है। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है—

"नारायणात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ।
एतद्रहस्यं वेदानां पुराणानां च सम्मतम् ।।"

इसी रहस्य का उद्घाटन सुबालोपनिषत् ने इस प्रकार किया है—

"किं तदासीन्नैवेह किंचनाग्र आसीदनूलमनाधारं
इमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्योदेव एको नारायणः।"

महाभारत में भी नारायण को ही कारण-वस्तु स्वीकार किया गया है। प्रलयकाल में सब कुछ प्रलीन हो जाने पर एक नारायण ही अवशिष्ट रहते हैं—

"ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ।
आभूत संप्लवे प्राप्ते प्रलीनः प्रकृतौ महान् ।।

तथा

एकस्तिष्ठति विश्वात्मा सतु नारायणः प्रभुः ।
कृष्ण एव हि लोकानां उत्पत्तिरपिचाप्ययः ।।"

इस रहस्य का उद्घाटन पुराण-वाक्य द्वारा इस प्रकार किया गया है :—

"व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी प्रकृति और पुरुष, दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा ही सर्वाधार एवं सर्वेश्वर है।

वह वेद और वेदान्तों में विष्णु नाम से प्रकीर्तित हुआ है।"†

इसी आशय को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"ब्रह्मा, शंभु, सूर्य, चन्द्र और इन्द्र (जिस प्रकार से ये उसी प्रकार से अन्य भी) वैष्णव तेज से युक्त हैं। जगत्कार्य के अवसान में वे तेज से वियुक्त हो जाते हैं। तेज वियुक्त होकर वे सब पंचत्व को प्राप्त हो जाते हैं और नारायण में विलीन हो जाते हैं...।"‡

ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि नारायण सर्वोपरि हैं।

---

† "प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि॥
परमात्मा च सर्वेषां आधारः परमेश्वरः।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते"॥

‡ ब्रह्माशंभुस्तथैवार्कः चन्द्रमाश्चशतक्रतुः।
एतवाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा॥
जगत्कार्यावसानेषु वियुज्यन्ते च तेजसा।
वितेजसश्च ते सर्वे पंचत्वमुपयान्ति च॥
नारायणे प्रलीयन्ते × × × ×।

अध्याय ५

नारायण इस समस्त प्रपंच के स्वामी हैं। स्वामित्व गुण की स्थिति केवल उन्हीं में है। प्रपंच में चिदचित् दोनों का समावेश हो जाता है। अचित् (प्रकृति) का वर्णन तो अन्यत्र किया ही जा चुका है। यहाँ चित् की विवेचना करनी है। चित् से जीवात्मा का ग्रहण होता है। यहाँ यह देखना है कि यह जीवात्मा है क्या? और इसका परमात्मा से क्या सम्बन्ध है?

जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

जीवात्मा अजड़ के भेद में प्रत्यक होने से अपने प्रति आप भासमान होता है। ज्ञानगुणक वह जीवात्मा अणुस्वरूप है। अणुस्वरूप जीवात्मा अनन्त अनादि हैं। यों तो परमात्मा के साथ जीवात्मा के सम्बन्ध अनन्त है, किन्तु स्फुट रीति से नौ स्थिर संबंध प्रतिपादित किये गये हैं:—

"पिता च रक्षकश्शेषी भर्ता ज्ञेयो रमापतिः।
स्वाम्याधारो ममात्मा च भोक्ता चाद्यमनूदितः।"

उक्त श्लोक में 'रमापति' विशेष्य है और 'पिता' इत्यादि पद विशेषण हैं। भगवान् में पितृत्वादि सम्बन्ध स्थिर हो जाने से जीव में पुत्रत्वादि सम्बन्ध प्राप्त होता है।

इस दृष्टि से (१) पितृ-पुत्र-भाव, (२) रक्ष्य-रक्षक-भाव, (३) शेष-शेषि-भाव, (४) भर्तृ-भार्या-भाव, (५) ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव, (६) स्व-स्वामि-भाव, (७) आधाराधेयभाव, (८) आत्मशरीर-भाव और (९) भोक्तृभोग्यभाव—ये नौ सम्बन्ध प्रतिफलित होते हैं। यहाँ नौ भाव के नाम कहने में भगवान् और जीव दोनों के प्रतिपादक शब्द आगे-पीछे व्यवस्थित हैं। उपर्युक्त श्लोक में परमात्मा के जो सम्बन्ध-सूचक नाम प्रतिपादित हैं उनके साथ जीव के

सम्बन्ध को सूचित करने वाले ये पुत्र, रक्ष्य, शेष, भार्या, ज्ञाता, स्व, आधेय, शरीर और भोग्य नाम ग्राह्य हैं।

(१) परमात्मा प्रपंच का उपादान-कारण है, इस कारण उसमें पितृत्व-भाव और जीव में पुत्रत्व है। इस सम्बन्ध में प्रमाण भी हैं—"पुत्रे पितुरुपादानत्वं"। (२) जीव के विषय में परमात्मा का रक्षकत्व प्रसिद्ध है। इससे जीव का रक्ष्यत्व सिद्ध है। (३) शेषत्व का अभिप्राय अतिशयाधायकत्व है और शेषित्व अतिशय-भाक्त्व को कहते हैं। 'अतिशयोनाम आनन्दादि'। जिस व्यवहार से भगवत्मुखोल्लास हो वही कर्तव्य है। ऐसा भाव रखते हुए भगवान् की प्रसन्नता के लिए भगवदाज्ञानुसार रहना ही जीव का स्वरूप है। (४) इस जगत् में एकमात्र परमात्मा ही पुरुष है। शेष जगत् स्त्रीप्राय है—परमात्मा पुमानेकः स्त्रीप्रायमितरञ्जगत्'। भार्यात्व का अभिप्राय अनन्यार्हत्व है। जीव परमात्मा का शेष है, यह अनुसंधान रहने के साथ-साथ यह भाव मी विशेषता से दृढ़ रहना चाहिए कि जीव में परमात्मा के सिवा और किसी का काम नहीं है अर्थात् जीव केवल भगवान् का शेष है, किसी दूसरे का नहीं। ऐसा निश्चय (अनुसंधान) ही अनन्यार्हत्व है। (५) भगवान् ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञातव्य और उपास्य हैं और जीव ज्ञाता व उपासक है। (६) स्वत्व—यथेष्टविनियोगार्हत्व अर्थात् इच्छानुसार बरते जाने के योग्य रहना 'स्वत्व' है और यथेच्छ बरतने वाला 'स्वामी' है अर्थात् जीव 'धन' है और परमात्मा 'धनी' है। (७) भगवान् सर्वाधार हैं और जीव आधेय है। (८) भगवान् आत्मा अर्थात् नियन्ता, धारक और शेषी हैं। अन्तः प्रविष्ट वे नियमन करते हैं, इसलिए नियन्ता हैं, धारण करते हैं इसलिए धारक हैं और भोग तथा लीला जैसे स्वार्थ में सबको लेने से शेषी भी हैं। इधर जीव में नियाम्यत्व, धार्यत्व और शेषत्व है जो शरीर का लक्षण है और शरीरी परमात्मा की अपेक्षा से सदैव जीव में विद्यमान रहता है। (९) लोक में भोग्य पदार्थ आहार होता है। जिस

प्रकार नेत्र का आहार रूप और कान का आहार शब्द है उसी प्रकार परमात्मा का भोग्य जीव है। गीता में कहा भी है—

'प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'।

तैत्तिरीयोपनिषत् में 'अहमन्नमहमन्नम्', इस प्रकार जीव का अनुसंधान होने से जीव भोग्य है और परमात्मा भोक्ता है।

परमात्मा और जीव के उपर्युक्त ९ संबंध हैं। ये चित्त पर सदैव आरूढ़ रहने चाहिए जिससे स्वरूप और पररूप का बोध होता रहे।

ऊपर किए हुए संबंध-विवेचन में जीव को भगवान् का शेष, स्व, आधेय, शरीर और भोग्य कहा गया है। यहाँ तक कि इसको अन्नस्थान में भी प्रतिष्ठित मान लिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्थ की योग्यता जीव के स्वरूप में ही नहीं है। इस स्वार्थता का न होना तो कोई बात नहीं, परन्तु साथ ही उसकी भगवत्परतंत्रता भी सिद्ध होती है। यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या जीव को भगवान् का इतना परतंत्र माना जायगा कि वह अपने आप कुछ भी नहीं कर सकता? जो कुछ भगवान् कराते हैं, वह वही करता है। इससे जीव में 'कर्तृत्व' नहीं ठहरता। जब वह कर्ता नहीं ठहरता तो 'ऐसा करो, ऐसा मत करो' आदि शास्त्र की अनेक आज्ञाएँ व्यर्थ हो जाएँगी क्योंकि उनके पालन के लिए जीव को स्वातंत्र्य चाहिए और परतंत्रता में उनका पालन हो नहीं सकता।

इस शंका का निवारण शास्त्र को मिथ्या कह देने से नहीं होता। शास्त्र मिथ्या नहीं हैं। जीव भगवद्दास होने से परतंत्र अवश्य है, परन्तु इससे जीव का कर्तृत्व और तत्फल नहीं मिट सकता। जीव को कर्म, इन्द्रिय, काल आदि के वश में भी तो माना जाता है। जब इनकी परवशता में जीव को मानते हुए उसके कर्तृत्व और फल को स्वीकार किया जाता है तो भगवान् से ही क्या द्वेष है? भगवान् तो जीव का एकमात्र ईश्वर है।

यही बात अधिकरणसारावली में भी निरूपित की गई है। उसमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों हैं। पूर्वार्द्ध का तात्पर्य यह है–"जो परतंत्र है वह कर्ता नहीं हो सकता। ऐसा महर्षि पाणिनि भी मानते हैं। "स्वतंत्रः कर्त्ता"—अष्टाध्यायी में यह सूत्र होने से स्वतंत्र का कर्तृत्व पाणिनि-सम्मत है। यदि ऐसा न हो तो 'यह काम करो, यह काम मत करो' आदिक आज्ञाएँ 'निगडित पुरुष को भागने की आज्ञा' के समान ठहरेंगी।" उत्तरार्द्ध का तात्पर्य यह है—'ऐसी बात नहीं है।' जीव कर्म, इन्द्रिय, काल आदि के परवश है। इसमें कर्तृत्व और कर्तृत्वप्रयुक्त फल (भोक्तृत्व) को अंगीकार करके उस परमात्मा के विषय में जो अनेक श्रुतियों में जीव का केवल स्वामी प्रतिपादित है, यह द्वेष करना कि जीव परमात्मा का परतंत्र नहीं है, बहुत बुरा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीव परमात्मा का परतंत्र होने मात्र से 'ऐसा करो, ऐसा मत करो' इस शास्त्रादेश में वैफल्य-शंका करना अनुचित है, क्योंकि जब कर्म, इन्द्रिय, काल आदिक का परतंत्र होने से शास्त्र की विफलता नहीं तो केवल परमात्मा का परतंत्र होने से शास्त्र की विफलता कैसे होगी ?

इसी बात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी राजमंत्री को लीजिए। वह राजा का परतंत्र है। वह अपराधियों को १० वर्ष के कारावास का दण्ड दे सकता है। यह शक्ति उसकी स्वकीय नहीं है, परकीय है, राजा की दी हुई है; परन्तु जब-जब वह अपराधियों को ६ मास, २ वर्ष अथवा ५ वर्ष का कारावास दण्ड देता है, वह बार-बार राजा को पूछकर नहीं देता। परतंत्र रहने पर भी राजा की दी हुई शक्ति

पूर्वपक्ष—"कर्ता न ह्यन्यतंत्रस्स्मरति खलु तथा पाणिनिश्चान्यथा चेदाज्ञा कुर्यान्न कुर्यादिति तु निगडिते धावनादेशवत्स्यात्।"

उत्तरपक्ष—"मैवं कर्माक्षकाल प्रभृतिपरवशे कर्तृतां तत्फलं च स्वीकृत्य आत्मेशमात्रे श्रुतिशतविदिते द्वेष इत्थं दुरन्तः।"

के अन्तर्गत अपनी स्वतंत्रता से काम करता है। किस अपराध के लिए कितना कारावास उचित है, ऐसे राज्यनियमों की पुस्तक भी राजा ने मंत्री को दे रक्खी है। एक-एक न्याय करने के समय राजा मंत्री की कलम नहीं पकड़ लेता। प्राप्तशक्ति के अन्तर्गत मंत्री जैसा उचित समझे वैसा करे। हाँ, उस शक्ति का जो राजा ने मंत्री को दे रखी है, यदि मंत्री उचित प्रयोग करता है तो राजा उस पर अनुग्रह करता है और अनुचित व्यवहार करने पर राजा निग्रह करता है। यहाँ विचार करने की बात यह है कि ६ मास, २ वर्ष और ५ वर्ष कारावास का दण्ड अपराधी को देते समय मंत्री राजा का परतंत्र अवश्य है, किन्तु राजा दस वर्ष तक की शक्ति पहले ही दे चुका है। उसके अन्तर्गत होने से ६ मास, २ वर्ष और ५ वर्ष की आज्ञा देने में मंत्री स्वतंत्र व्यवहार करता है। इस उदाहरण में परतंत्रता और स्वतंत्रता, दोनों एक समय में व्यवहार-भेद से स्थिर रहीं, फिर भी कुछ दोष नहीं आया।

यही मत 'तत्त्वसार' ग्रंथ में इस प्रकार व्यक्त किया गया है-- आदि में (सृष्टि दशा में) जीव स्वयं भगवान् की दी हुई स्वतंत्र शक्ति तत्तद्विषय में ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का उत्पादन करता हुआ रहता है। भगवान् हरि जीव की प्रथम प्रवृत्ति में उपेक्षा करते हैं (उदासीन रहते हैं)। तत्पश्चात् आगे की प्रवृत्ति में अनुमति† देते हैं। तदुपरान्त निग्रह-अनुग्रह करते हुए वे उन सबको

---

† **'अनुमति' शब्द अनुज्ञा के अर्थ में आता है। अप्रवृत्त के प्रवर्तन का नाम आज्ञा है और स्वयं-प्रवृत्त के प्रवर्तन का नाम अनुमति और अनुज्ञा है। उपेक्षा में केवल उदासीनता ही है जो एक प्रकार का जड़वत् व्यवहार भी कहा जा सकता है, परन्तु भगवान् की ओर से अनुमति होती है। यह भी स्वातंत्र्य-शक्ति-प्रदान का एक अल्प स्वरूप-भेद ही है क्योंकि भगवदिच्छा से सर्वथा स्वतंत्र होकर कोई भी व्यवहार संगठित हो कैसे सकता है?**

अपने-अपने कर्मानुसार फल देते हैं।"‡

जीव अनेक प्रकार के हैं, परन्तु इनके बड़े भेद तीन हैं। नित्य, मुक्त और बद्ध। नित्य जीव वे हैं जो भगवत्पारिषद हैं और जो श्री वैकुण्ठनाथ के सचिव कहलाते हैं तथा जो अपने-अपने परिचार-साधन लिए हुए तथा अन्य रीति से परस्वरूप की किंकरता को प्राप्त हैं। इनको इसी प्रकार से सदैव भगवद्धाम में सानंद निवास करने का सौभाग्य मिला हुआ है। जो मुक्त जीव हैं वे माया-बंधन से छूटकर मोक्ष दशा को प्राप्त हो गये हैं। वे स्वेच्छा से कहीं भी विचर सकते हैं। उन पर कोई कर्म-बंधन नहीं है। तीसरे बद्ध जीव हैं। ये संसारी हैं जो अनादिकाल से अब तक माया-बंधन में पड़े हुए है जिससे ज्ञान और आनंद जो इनके स्वरूप में है, दबे हुए अथवा संकुचित रहते हैं।

जीवात्मा के भेद

पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी मुक्त जीव ईश्वर नहीं हो जाते। मुक्त जीव अनन्त ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न रहते हुए भी वे ईश्वर से भिन्न रहते हैं। भेद इस दृष्टि से है कि जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का अधिकार केवल परमात्मा को रहता है क्योंकि प्रपंच पर शासन करने वाला उसका स्वामी परमात्मा ही है, मुक्त जीव नहीं है। भगवद्दासत्व तो जीव का नित्य स्वरूप है जो मोक्ष दशा में भी खो नहीं जाता। स्वामी का स्वामित्व अनादि है और स्वरूप नित्य पूर्ण है। जीव मुक्त होने से पूर्व बंधन में रहते हैं और मुक्त जीव

मुक्त जीव और ईश्वर का भेद

---

‡ "आदावीश्वरदत्तयैव पुरुषः स्वातन्त्र्यशक्त्या स्वयं।
तत्तद्ज्ञान-चिकीर्षण-प्रयत्नान्युत्पादयन् वर्तते।
तत्रोपेक्ष्य ततोऽनुमत्य विदधत् तन्निग्रहानुग्रहौ।
तत्तत्कर्मफलं प्रयच्छति सदा सर्वस्य पुंसो हरिः।"

अनेक होने से, उन सब में स्वामित्व ठहरना अयुक्त भी है क्योंकि स्वामित्व एक ही में ठहर सकता है, अनेक में नहीं।

बद्ध जीवों के भेद

बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) बुभुक्षु और (२) मुमुक्षु। बुभुक्षु वे जीव हैं जो संसार के सुखों को भोगने की इच्छा रखते हैं और उन्हीं नाना प्रकार के सुखों को अपना लक्ष्य बनाए हुए हैं, संसार-बंधन से छूटने का प्रयत्न नहीं करते हैं। मुमुक्षु वे हैं जो संसारी सुखों से प्रयोजन न रखकर संसार-बंधन से छूटने की इच्छा रखते हैं और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाए रखकर उसी की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहते हैं।

बुभुक्षु जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) अर्थकामपर और (२) धर्मपर। अर्थकामपर वे हैं जो द्रव्य अथवा शब्दादि सुख पर शीघ्र टूट पड़ते हैं और जिन्हें धैर्य नहीं रहता। धर्मपर वे हैं जो अच्छा भोग मिलने के अभिप्राय से पुण्य करते हैं, परोपकार करते हैं और जितने काम करते हैं सकाम करते हैं, निष्काम नहीं। वे मानते हैं कि संसार में अन्याय नहीं है। अच्छे-बुरे कार्यों का अच्छा-बुरा फल अवश्य मिलता है, इसलिए अच्छा किया जाए। ऐसी उनकी निष्ठा रहती है। यदि कदाचित् सुकर्म न बन सके तो, उनका मत है, कुकर्म से तो अवश्य ही दूर रहना चाहिए। ये उक्ति ऐसे ही जीवों की है—

"रे मन भलौ न कर सकै (तो) बुरे पंथ मत जाय।"

वे यह मान कर व्यवहार करते हैं कि इस जन्म में किए हुए पुण्य का उत्तम फल यदि इस जन्म में न मिलेगा तो दूसरे जन्म या जन्मों में तो अवश्य मिलेगा।

धर्मपर जीवों के दो भेद हैं—(१) भगवत्पर और (२) देवतांतरपर। 'भगवत्पर' वे जीव हैं जो अपनी अभिलाषाओं और शुभकर्मों के फलों को केवल भगवत् ही से माँगते हैं और

'देवतांतरपर' वे हैं जो भगवान् को छोड़ अन्य देवताओं से याचना करते हैं।

बुभुक्षुओं में 'धर्मपर' के अन्तर्गत जो 'भगवत्पर' हैं वे छोटी-बड़ी, सब वस्तुओं की याचना भगवान् से ही करते हैं। भगवान् के पास भी देने के लिए अभाव किस वस्तु का है? उनके भंडार में तो सब कुछ भरा है। वे तो अनन्तवैभववान् हैं। उनके सम्बन्ध में लिखा है—जो मेरे और वेद के शिरों पर शोभित है, जिसमें हमारा सकल मनोरथपथ है, पुण्डरीकाक्ष के उस चरणारविंद की जो हमारा कुलधन और कुलदैवत है, मैं स्तुति करूँगा।"* दूसरे स्थान पर भगवान् के लिए प्रयुक्त "अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्ययौवन, लावण्यमय, अमृतसागर, श्री-शोभा, भक्तप्राण, समर्थ, आपत्सखा, और अर्थियों के कल्पवृक्ष" आदि शब्दों को देखिये।

उक्त दोनों स्थलों पर दो वाक्यांश देखने योग्य हैं—(१) जिनमें हमारा सकल मनोरथपथ भली भाँति मिलता है और (२) अर्थियों के कल्पवृक्ष। ये दोनों ही भगवान् के अन्यतम दानी होने के प्रमाण हैं।

भगवत्पर बुभुक्षुओं के विषय में भी याचना की भावना विशेषतः दृष्टव्य है। माँगने वाले छोटी-बड़ी सब वस्तुओं की याचना भगवान् ही से करते हैं। उसकी दृष्टि में वे वस्तुएँ भगवान् से भी बड़ी हैं। कोई भगवान् को पुत्र के लिए भजता है, कोई धन के लिए और कोई स्वर्ग के लिए। उनकी यह बात तो अच्छी है कि वे भगवान् को भजते हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे भगवान् के लिए भगवान् को नहीं भजते। उन वस्तुओं के लिए भजते हैं जो असत् और भंगुर हैं। इस कक्षा में भगवान् तो उपायमात्र हैं—

"यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरस्सु च भाति यस्मिन्नस्मन्मनोरथपथः सकलः समेति।
स्तोष्यामि नः कुलधनं कुलदैवतं तत्पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ॥"
अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्ययौवनस्वभावलावण्यमयामृतोदधिम्।
श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम् ॥

केवल साधन है। फल तो पुत्र, धन, अधिकार, स्वर्ग आदिक हैं। फल उपायों से बड़े होते है क्योंकि उपायों का अवलम्बन तो फल ही की प्राप्ति के लिए किया जाता है। फल प्राप्ति के उपरान्त उपायों की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति भगवान् को तभी तक भजते हैं जब तक उनको फलसिद्धि नहीं होती। पुत्र, अधिकार, धनादि मिलने के पश्चात् वे भगवान् को नहीं भजते। स्वर्ग तक की याचना करने वालों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है।

मुमुक्षु जीव परमात्मा को परमात्मा के लिए ही भजते हैं। उनकी कामनाओं का आदि और अन्त परमात्मा है। वे कहते हैं— "मैं आपके चरणों की वंदना अद्वन्द्व के निमित (शीत-घाम, सुख-दुःख आदि से बचने के लिए) नहीं करता हूँ, न कुंभीपाक जैसे बड़े (भयंकर) नरक के निवारण के लिए करता हूँ और न रम्य रमणी के मृदुतनुलता-नंदन (उपंवन) में अभिरमण करने के लिए ही करता हूँ, मैं तो हृदय-मंदिर के प्रत्येक भाव में आपही की भावना करता हूँ।"*

मुमुक्षु जीवों के भेद

मुमुक्षुओं के दो भेद हैं—(१) कैवल्यपर, और (२) भगवत्पर। कैवल्यपर वे हैं जो माया-बन्धन से छूट जाते है और उस दशा मे अपने माया-विरहित आत्मस्वरूप का आनन्द भोगते है। जो-परमात्मा की चेतनविशिष्टता की उपासना करते हैं तथा आत्मप्राप्तिकाम कहे जाते है, उनका यह पद है। इस साधना को केवल की उपासना कहते हैं। यही चेतनविशिष्टब्रह्मोपासना भी कहलाती है। उपासनानुसार फल दशा में ऐसे जीवों का भोग्य चेतन ही होता है। विचार करने की बात है कि स्वयं जीवात्मा भी तो ज्ञानानन्द लक्षण

---

* **"नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः।**
कुंभीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम्।
रम्या रामा मृदुतनुलतानन्दने नाऽभिरन्तुम्।
भावे भावे हृदय भवने भावयेयं भवन्तम्।।"

वाला है। कैवल्य प्राप्त होने पर आवागमन मिट जाता है। इस दशा में अन्य सब सुख होते है, एक परमानन्दस्वरूप का आनन्द नहीं मिलता।

चेतनस्वरूप की है; किन्तु इस अवस्था में भी परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान अवश्य रहता है। इस संबंध-ज्ञान के बिना माया, जो परमात्मा के वशीभूत है, कैसे छूट सकती है।

कुछ लोग 'तत्त्वमसि' और 'अहंब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों का आश्रय लेकर जीव और ईश्वर के अभेद का प्रतिपादन करते हैं। ये वेद-वाक्य है और बड़े ज्ञान से परिपूर्ण है। इनके आधार पर जो जीव और ईश्वर के अभेद के गीत गाने लगते हैं उनसे पूछा जाए कि उक्त वाक्यों में जीव का नाम भी न आने पर उन्होंने उसे कहाँ से पकड़ लिया। यदि मानलीजिए वे यह कहते हैं कि "ईश्वर से इतर अजड़ भी तो जीव ही है, यदि जीव को न लिया जायगा तो ईश्वर से अभेद किसका होगा ?" तो उनसे कहा जा सकता है कि "यदि आप ही जीव को 'इतर' (दूसरी) वस्तु बताते जाते हो तो भेद में अभेद कैसा ?" स्वरूपभेद वाली वस्तु का अभेद तो होही नहीं सकता। जीव और परमात्मा दोनों 'प्रत्यक्' हैं; इसलिए अनेक स्थलों पर आत्मा शब्द दोनों के लिए आजाता है, किन्तु एक जीवात्मा ठहरता है और दूसरा परमात्मा। जीवात्मा परिणामी है। इसके ज्ञान का संकोच-विकास होता है और परमात्मा अपरिणामी है। उसके ज्ञान का संकोच-विकास नहीं होता। एक दास है, दूसरा स्वामी। एक बद्धावस्था में माया में अनुरक्त रहता है, दूसरा माया-बंधन के बाहर रहता है, किन्तु जीवात्मा भी अज है और परमात्मा भी अज है। देखिये–'अजामेकाम्' आदि।

इस वाक्य पर लोग बहुत अटकते हैं। इसमें कोई भी शब्द

जीवात्मा का वाचक नहीं है। 'तत्' शब्द सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट का बोधक है क्योंकि वह स्वरूप प्रलयावस्था का होने से दूरवर्ती कहा जाता है और 'त्वम्' शब्द स्थूल चिदचिद्विशिष्ट का बोधक है क्योंकि यह स्वरूप वर्तमान सृष्टि अवस्था में होने से निकटवर्ती माना जाता है। इन्ही दोनों स्वरूपों का अभेद दिखाने से प्रयोजन है। जीव के साथ ईश्वर का अभेद दिखाने की कल्पना ही नहीं हो सकती। ऐसा दीख पड़ता है कि बौद्धों के 'नास्तिवाद' के विरुद्ध 'अस्तिवाद की प्रतिष्ठा के लिए 'नास्तित्व' के समीपी अभेदार्थ का प्रतिपादन किया जाने लगा था।

'तत्त्वमसि' की व्याख्या

यह वाक्य भी प्रायः दार्शनिकों के विवाद का विषय रहा है। पीछे इस वाक्य की व्याख्या की जाचुकी है। संक्षेप में इतना कहना है कि 'अहं' का अर्थ 'जीव' नहीं है। इसका अर्थ "मैं" है। परमात्मा चिदचित् का अधिष्ठान है अथवा यह कहिये कि चिदचित् परमात्मा से अधिष्ठित हैं। चित्, अचित् और परमात्मा की एक संघटना है। इस संघट्ट में मुख्य शरीरी परमात्मा होने से, इसका जो 'अहं' है वह केवल चित् वा अचित् पर नहीं ठहरता, मुख्य शरीरी पर ठहरता है और ऐसी उत्तमता से ठहरता है कि ये दोनों उससे पृथक् नहीं हो सकते। उसके धार्य होने से उनका साथ लगा रहना अनिवार्य है। ऐसा जो त्रिविध स्वरूप है उसी का नाम ब्रह्म है। अन्यत्रोक्त वेद वाक्य पर पुनः विचार कीजिए।

'अहं ब्रह्मास्मि की व्याख्या

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मैतत्।"

भोक्ता (चित्, जीव), भोग्य (अचित्, माया) और प्रेरिता (ईश्वर), इनको मानकर इस सबको त्रिविध ब्रह्म कहा है। इन तीनों में मुख्य ईश्वर है जो शेष दो (भोक्ता और भोग्य) से विशिष्ट है। इस संघट्ट का 'अहं' मुख्यता से विशिष्ट पर गये बिना कभी भी नहीं रहेगा और चित् और अचित् ये दोनों भी

विशेषण होने से अलग्न नहीं होंगे, साथ रहेंगे। यह ज्ञान की बड़ी ऊँची कोटि है। इसीलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अहं' का अर्थ 'जीव' करना उचित नहीं दीखता क्योंकि जो अर्थ बनता ही नहीं उसका बनाना उचित नहीं। उक्त वाक्यों का ठीक-ठीक अर्थ समझलेने पर वह कक्षा भी ठीक-ठीक समझ में आजायगी जहाँ कि लोग कहा करते हैं "अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करो जिससे सब कपाट खुलजाएँ।" यहाँ 'अपने' शब्द उसी अभिप्राय को लिए हुए है जो 'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अहं' शब्द के साथ लगा हुआ है। ऐसे ही ज्ञान की उत्तमता दिखाई है। लिखा भी है—'नान्यपन्था विद्यते अनयाय' अर्थात् दूसरा मार्ग ही नहीं है। इसी प्रकार और वाक्यों की संगति बैठती है।

यहाँ उस महात्मा का चातुर्य द्रष्टव्य है जिसने बौद्धों के पास स्थित होकर और वेदवाक्यों को मुख्यता देकर नास्तिवादियों को खींच लेने की युक्ति निकाल डाली, चाहे उसने 'तत्त्वमसि' से 'जीवेश्वर' का अभेद कहा और चाहे 'अहं ब्रह्मास्मि' से जीव को ब्रह्म बनाया।

जो कैवल्यपर हैं उनमें एक प्रकार की मर्यादा अवश्य है क्योंकि वे परमात्मा की चेतनविशिष्टता की उपासना करते हैं।

'कैवल्यपर' और उनके कुछ अभाव

इस उपासना के अवलम्बी परमात्मा के सम्बन्धों को मानते हैं, किन्तु चेतन में मुख्य भाव रखते हैं। यह भूल है। इन्हें भगवान् की प्राप्ति नहीं होती, अपने आत्मस्वरूप का आनंद भोगते हैं। इन्हें परमात्मस्वरूप की सन्निधि का आनन्द नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से पतिवियुक्ता को अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण मिलजाने पर भी पति-सन्निधि का आनन्द नहीं मिलता।

इन लोगों के सर्वस्व नारायण ही हैं। वे उन्हीं से अपना

पूर्ण सम्बन्ध रखते हैं। इस संबंध में लोमहर्षण जी की अनन्यता देखिये—"मैं नारायण के चरणकमल को नमस्कार करता हूँ, सदैव नारायण का पूजन करता हूँ, नारायण के निर्मल नाम का जाप करता हूँ और अव्यय तत्त्व नारायण ही का स्मरण करता हूँ।"*

'भगवत्पर' और उनकी विशेषताएँ

उन्हीं नारायण को श्री जयदेव ने "दिनमणि मण्डल-मंडन भवखण्डन" तथा "अमल कमलदल लोचन, भवमोचन" कहा है। शुकनारदादि मुनिवर, परीक्षितादि मनुज, ब्रह्मरुद्रादि सुरवर, और प्रल्हादादि असुर उन्हीं के परिवार हैं। उन्हीं का स्वरूप परमविभूतिवान् है। वेही शोभा की शोभा और अनन्त दया के सागर हैं। 'भगवत्पर' जनों की भावना उन्ही नारायण में रहती है।

---

* "नमामि नारायणपादपङ्कजं, करोमि नारायणपूजनं सदा।
वदामि नारायणनाम निर्मलं, स्मरामि नारायण तत्त्व अव्ययम्।"

अध्याय ६

'भगवत्पर' जनों के दो भेद हैं। (१) भक्त और (२) प्रपन्न। जो भक्त हैं वे परमात्मा से प्रेम करते हैं, प्रेमपूर्वक भगवत्पूजन कर आनन्दित रहते है और प्रेम बाहुल्य से भगवान् के साकार रूप को प्रकट तक करालेते है। भक्ति शब्द सेवा * का बोधक है। भगवत्स्वरूप में अत्यन्त उत्साहपूर्वक सेवा-भाव का उदय होने पर प्रेम की जो अटूट तीक्ष्ण धारा बहने लगती है उसका नाम भक्ति है। भक्ति का आरंभ साधारण पूजन से होकर, उसकी पूर्ति ईश्वर के अत्यन्त गंभीर प्रेम में होती है। जिसमें परमात्मा के प्रति ऐसा प्रेम होता है, वह भक्त होता है। भक्ति परमात्मा को बहुत प्यारी है, इसीसे वे भक्त के वश में होजाया करते हैं। किसी संसारी के प्रति ही भक्ति प्रेम और सेवा करके देखो। वह आपके अनुकूल होता है वा नहीं? अवश्य होगा। फिर परमात्मा का तो कहना ही क्या? वे तो प्रेम ही के ग्राहक है। उनकी प्रसन्नता में आचरण, अवस्था, विद्या, नाम-रूप, धन, उच्च वंश, और पौरुष आदि कारण नहीं बनते। "व्याध का क्या आचरण था, ध्रुव की क्या अवस्था थी, गजेन्द्र की क्या विद्या थी, कुब्जा का क्या नाम-रूप था, सुदामा के पास क्या धन था, विदुर का क्या वंश था, और उग्रसेन का क्या पौरुष था? इससे सिद्ध है कि माधव भगवान् केवल भक्ति से संतुष्ट होते हैं, गुणों से नहीं। उनको तो भक्ति ही प्यारी है।"†

भगवत्पर जनों के भेद और भक्ति की व्याख्या

---

* 'भज सेवायाम्'।

† व्याधस्याचरणं ध्रुवस्यच वयो विद्या गजेन्द्रस्य का?
कुब्जाया किं नामरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्॥
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

भगवान् में प्रेम की लगन लगी हो तबतो कहना ही क्या है। यदि अन्य भावों से भी भगवान् में पूरी लगन लगी हो तो भी उद्धार हो जाता है, जैसे जल में कूदने से भीगना ही पड़ता है चाहे किसी भाव से कूदो, क्योंकि जल का स्वरूप ही द्रव है। गोपियों की 'लगन' भगवान् में काम-भाव से हुई थी, और कंस की भय से–‡ ऐसे भय से कि उसे सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दीखने लगे। इसी प्रकार शिशुपाल की भी भगवान् में 'लगन' थी, किन्तु द्वेष से।" अभिप्राय यह है कि उनकी 'लगन' किसी प्रकार से हुई हो, परन्तु थी तो परमात्मा के प्रति–उस परमात्मा के प्रति जिसमें अनन्त कल्याणगुण सदा निवास करते हैं। उसने अपने स्वरूप का परिचय दिया। यह उसकी स्वाभाविक महिमा है कि वह उत्तम ही गति देता है; परन्तु इन सब मार्गो से प्रेम का मार्ग उत्तम है क्योंकि भय, द्वेष आदि के भाव प्रथम तो विपरीत होते हैं, दूसरे जब तक वे अत्यन्त तीक्ष्ण नहीं होते, उत्तम फल नहीं मिलता। इधर प्रेम-मार्ग के पथिक को देखिये। वह भक्ति के अतिरिक्त और किसी फल की ओर दक्पात ही नहीं करता। जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर, पत्र, कलिका, फूल, फल और भोग–ये क्रम से होते हैं वैसे ही प्रीति, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग क्रम से उदित होकर पूजन के भाव में मिलजाते हैं। यह भक्ति बहुत गुर्वी है। इसके लिए नकुल ने कहा है–"चाहे कालपाश से अनुबद्ध मुझे अधोगति मिले, चाहे कुलविहीन पक्षि-कीट-योनि में जन्म मिले और चाहे अन्तरात्मा सैकड़ों कीड़ों में जाकर उत्पन्न हो, परन्तु मेरी एकभक्ति (अनन्यभक्ति) हृदयस्थ केशव में हो।" * इसी प्रकार कुन्ती का

---

‡ कामाद्गोप्यो भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।"

* यदि गमनमधस्तात् कालपाशानुबद्धो।
यदि च कुलविहीने जायते पक्षिकीटे॥
कृमिशतमपि गत्वा जायते चान्तरात्मा,
मम भवतु हृदिस्थे केशवे भक्तिरेका॥

कहना है–"हे हृषीकेश ! मैं अपने कर्मफल से निर्दिष्ट जिस जिस योनि में जाऊँ उस उस में मेरी भक्ति आप में दृढ़ रहे।"† कुलशेखर स्वामी लिखते हैं–"हे चित्त ! तू इस कातरता को प्राप्त मत हो कि इस अगाध और दुस्तर संसार-सागर से मेरा संतरण कैसे होगा। नरक को छुड़ा देने वाले कमलाक्ष में जमी हुई तेरी अनन्य भक्ति तुझे अवश्य तार देगी।" ‡ वे फिर लिख ते हैं–"संसार नाम से प्रसिद्ध महासागर में जिसमें तृष्णा रूपी जल है, मदनरूपी पवन से मोहरूपी लहरमाला ऊँची उठ रही है, स्त्रीरूपी भँवर हैं, और जो पुत्र-पुत्री और भाई-बहिन रूपी ग्राहों से व्याप्त है–डूबते हुए हमको, हे त्रिधामन् ! हे वरद ! तू अपने चरणारविंद में भक्तिभाव प्रदान कर।" § भक्तवर प्रल्हादजी कहते है "हे नाथ! सहस्रों योनियों में से मैं जिन जिनमें जाऊँ, हे अच्युत: उन उन में आपमें मेरी अचला भक्ति बनी रहे। अविवेकियों की जो स्थिर प्रीति विषयों में रहती है, (वैसी ही प्रीति) आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से दूर न हो।" * महात्मा दाल्भ्य का कहना है–"जिसकी जनार्दन में भक्ति है उसको बहुत मंत्रों से क्या प्रयोजन है ?"†

---

† स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्।
तस्यां तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्ति दृढ़ास्तु मे॥

‡ "भवजलधिमगाधं दुस्तरं निस्तरेयं कथमहमित चेतो मास्मगा: कातरत्वम्।
सरसिजदृशिदेवे तावकी भक्तिरेका नरकभिदिनिषण्णा तारयिष्यत्यवश्यम्।"

§ तृष्णातोये मदनपवनोद्भूतमोहोर्मिमाले
द रावर्ते तनयसहजग्राहसंघाकुले च
संसाराख्ये महति जलधौ मज्जतां नस्त्रिधामन्
पादांभोजे वरद भवतो भक्तिभावं प्रयच्छ।

"नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेषवचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि।
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरत: सा मे हृदयान्नापसर्पतु।"

† "किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने।"

इन वचनों से स्पष्ट है कि भगवद्भक्ति बड़ी मधुर एवं अ नंद-दायिनी है। ऐसे घोर संसार-सागर से बेडा पार लगाने की इसी में सामर्थ्य है। इनसे भक्ति की अमित महिमा सिद्ध है। सच्चे भक्त प्रभु से प्रेम करते है, किन्तु वे इसका बदला नहीं चाहते। श्रीनृसिंह भगवान् ने प्रल्हाद से कहा कि कुछ माँग तो प्रल्हाद ने निवेदन किया—"स्वामिन्! यह भक्तिमार्ग दुकानदारी नहीं है, फिर दास को लेन-देन से क्या प्रयोजन?" भक्तजन भगवान् के गुण गाते हैं। वे भगवान् ही को प्राप्त होते हैं। आदि, मध्य और अवसान, सब उन्हीं के प्रेम में होते हैं। इतर योगों में उपाय और फल भिन्न होते हैं, किन्तु भक्तियोग में उपाय और फल अभिन्न होते है। दोनों में एकमात्र भक्ति रहती है। भक्तिमार्ग सब से सुगम है। सांसारिक लोग अपने विचारों के घोड़ों को दौड़ाते ही रह जाते हैं, किन्तु वे उस स्थल तक नहीं पहुँच पाते जहाँ भक्त जन भगवान् की कृपा से सहज ही पहुँच जाते हैं। "दुर्बल विचारों की गति भगवान् तक नहीं है"। † भक्तिमार्ग अपने पथिकों को विचारों के धुँधले और विषम देश से शीघ्र ही आगे निकाल ले जाता है। फिर अंधकार में बुद्धिबल लगाने का प्रयोजन ही नहीं है।

भक्ति की महिमा

भक्त को तो पूर्ण प्रकाश में भगवान् के दर्शन होते हैं। सामान्य ज्ञान तो पशुओं में भी होता है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि का विस्तार उससे कहीं अधिक होता है। मनुष्य की बुद्धि भी सर्वत्रगामिनी नहीं है। कुछ दूर चल कर वह भी रुक जाती है; आगे नहीं बढ़ सकती। यदि उसे गम्य से आगे बढ़ने के लिए धकेला जाता है तो वह कुबिद्धि बन जाती है क्योंकि बुद्धि-गमन की भी एक सीमा है। इसमें उसका उल्लंघन करने की क्षमता नहीं है। अनेक ब्रह्माण्डों में

भक्ति और बोध

† "यतोवाचा निवर्त्तन्त अप्राप्य मनसा सह......।"
(उपनिषते)

से जितना जगत् इन्द्रियगोचरता को प्राप्त होता है उसीके भीतर यह बुद्धि काम करती है। यही बोधक्षेत्र है। जो लोग बोधक्षेत्र से आगे बढ़ने की इच्छा रखते हैं उनको विवेक, जितेन्द्रियता, शुचित्व आदि भक्ति-साधनों वा अंगों का सम्पादन करना आवश्यक है।

भक्ति और विवेक

अच्छे-बुरे में भेद करना ही विवेक है। इसके अन्तर्गत अनेक बातें आती हैं। शुद्धाशुद्ध भोजनादि की छाँट भी विवेक-क्षेत्र ही में आती है। आजकल शुद्ध भोजन का उपहास किया जाता है। स्वादिष्ट और देखने में भी अच्छे लगने वाले भोजन को कुछ लोग शुद्ध मान लेते हैं। अशुद्ध वस्तु हानिकारक होती है, यह समझने की बात है।

भोजन में अशुद्धि दो प्रकार से आती है--(१) खाद्य वस्तु के स्वभाव से (जिसे स्वाभाविक अशुद्धि कहते हैं), और (२) दूषित संसर्ग से। लस्सन आदि की दुर्गन्ध और तामसिकता स्वाभाविक है। मल आदि के लगने, अशुद्ध वायु में पड़ने अथवा पतितों के संसर्ग में जाने से वस्तु में सांसर्गिक दोष वा अशुद्धि का आना स्वाभाविक है।

वेद का वाक्य है कि आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है और धारणा-शक्ति सुव्यवस्थित होती है। विचार-शक्ति भी भोजन से ही बनती है। सात्त्विकी भोजन से विचार सात्त्विकी होते हैं। वास्तविक उन्नति के लिए सत्त्विगुण-वृद्धि की परमावश्यकता है और सत्त्वगुण-वृद्धि के लिए आहारशुद्धि और उसके लिए विवेक की आवश्यकता है।

यहाँ शुद्धि से तात्पर्य आचार-विचार की शुद्धि से भी है।

कुछ लोग आचार-विचार की शुद्धि की खिल्ली उड़ाते देखे जाते हैं। वे वस्तुतः इनके महत्त्व को ही नहीं समझते। आचरण की महत्ता को देखना हो तो वहाँ देखिये जहाँ लोग 'कथनी' से 'करनी' को ऊँचा बताते हैं, जहाँ कहने वालों से करने वालों को ऊँचा कहा जाता है। एक श्लोक में कहा भी है:—

भक्ति और आचरण

"परोपदेशवेलायां सर्वे शिष्टाः भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते ॥"

और भी,

'हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्'।

अतएव आचरण की खिल्ली उड़ाने वाले वही लोग हैं जो स्वयं आचारी नहीं हैं। इस 'आचार' शब्द के साथ विचार शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि किसी आचार को विचार के बिना अंगीकार नहीं किया जाता। बिना विचारे आचार करने से आचार में दूषण आना बहुत संभव है। इससे पीछे पछताना पड़ता है। कहा भी है—

"बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछताय।
काम बिगाड़े आपनो, जग में होत हँसाय ॥"

जो व्यक्ति कहने को क्रियान्वित करता है वह आचार्य कहलाता है। जो शास्त्रों के अभिप्रायों को समझे और जो स्वयं आचरण करता हुआ दूसरों को आचरण में लगावे वह आचार्य कहा जाता है:—

"आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचरे स्थापयत्यसौ।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते ॥"

आचार-विचार दोनों की शुद्धता से ही जीवन पवित्र होता है। यह असंभव है कि अशुद्ध और अपवित्र विचारों के होते हुए आचार शुद्ध रह सके। इसलिए आचार शुद्ध रखने से पूर्व विचार

शुद्ध होने की आवश्यकता है। कुछ लोग आचार-विचार की शुद्धि को हार्दिक संकीर्णता मानते हैं। उन लोगों का कहना है कि यदि हम सामाजिक उन्नति चाहते हैं तो हार्दिक संकीर्णता को निकाल कर हृदय को उदार बनाना होगा। ऐसे लोगों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे शुद्धाशुद्ध का भेद नहीं समझते हैं। वे उदारता और संकीर्णता का आशय नहीं समझते हैं। ऐसे लोगों को ध्यान रखना चाहिए कि भक्त अनुदार नहीं होता। भक्त की यही विशेषता है। "भगवद्भक्तों की शूद्र संज्ञा नहीं है। वे विप्र-भागवत माने जाते हैं। सब वर्णों में शूद्र वे हैं जो भगवद्भक्त नहीं हैं":—

"न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रभागवता स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दन ॥"

विष्णु-भक्त चाण्डाल भी द्विज से अधिक है और विष्णुभक्ति से विहीन 'यति' भी चाण्डाल से अधिक अधम है।

शुचित्व केवल शरीरिक ही नहीं होता, मानसिक भी होता है। यहाँ हमारा अभिप्राय शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शुचिता से है। मन की पवित्रता के बिना बाह्यकर्म अधिक काम नहीं देते। इसीलिए सत्य, आर्जव, दया, क्षमा, अहिंसा, अस्तेय, अक्रोध आदि अनेक बातों की आवश्यकता शुचित्व-सिद्धि के लिए आवश्यक है। त्याग भी शुचिता का ही एक अंग है। सब योगों में इसकी बड़ी महिमा है। भक्तियोग में तो इसकी महिमा और भी विलक्षण है। यहाँ त्याग के अन्तर्गत किसी बड़े भारी साहस की आवश्यकता नहीं है, और न किसी तोड़-फोड़ या किसी से बलपूर्वक अलग करने की आवश्यकता ही है। यह त्याग अत्यन्त स्वाभाविक है। जब कोई मनुष्य किसी से प्रेम करता है और फिर कोई दूसरा प्रियतर प्रतीत होने लगता है तो पहलेवाला स्वतः ही प्रेमी के हृदय से गिर जाता है। इसीप्रकार

अपने नगर को ही प्रेम करने वाला जब देश भर को प्रेम करने लगता है तो नगर-प्रेम का बाहुल्य नहीं रहता और जब वह विश्व भर से प्रेम करने लगता है तो देश-प्रेम का बाहुल्य कम हो जाता है। यह क्रिया स्वाभाविक ढंग से चलती रहती है। इसमें न कोई आघात पहुँचता है और न किसी बल-प्रयोग की आवश्यकता ही रहती है। असंस्कृत मनुष्य इन्द्रिय-सुखों का लोभी रहता है। जैसे-जैसे वह संस्कृत होता जाता है इन्द्रिय-सुखों की लिप्सा न्यून होती जाती है और बौद्धिक सुखों की चाह होने लगती है। खाद्य पर जितनी सुख-तीव्रता से कुत्ता या भेड़िया टूट पड़ता है, उतनी तीव्रता से मनुष्य नहीं टूट पडता, किन्तु बुद्धिसम्बन्धी अनुभूतियों और प्राप्तियों से जो सुख मनुष्य को होता है वह कुत्ते को कभी नहीं हो सकता। सुख पहले निम्न-इन्द्रिय-योग से होता है, परन्तु पशुत्व के दूर होने पर मानव जब उच्च कक्षा में पहुँचता है तो निम्न कक्षा के सुख गहराई में कम हो जाते हैं। ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनों सुखों से भी ऊपर एक ऐसा स्तर है जहाँ से ये दोनों सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। वह ऐसा स्थल है जहाँ जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप तथा सम्बन्ध के ज्ञान की समक्षता प्राप्त होती है। जब चन्द्रमा चमकने लगता है तो आकाश के अन्य तारे हतप्रभ दीखने लगते हैं और जब सूर्य चमकने लगता है चन्द्र स्वयं हतप्रभ हो जाता है। इसी प्रकार भक्तिमार्गीय त्याग सहज रूप में आता है। भगवत्-प्रेम के आगे ऐन्द्रिय और बौद्धिक सुख निस्तेज एवं नीरस हो जाते हैं। यह भगवत्प्रेम अपनी प्रथमावस्था में 'गौणी-भक्ति' कहलाता है, किन्तु प्रेम के बढ़ जाने पर वह 'पराभक्ति' कहलाता है। भक्त अपने किसी भी भाव को बलपूर्वक दबाता नहीं है, प्रत्युत गहरा कर के प्रभु में लगा देता है। प्रेम सर्वत्र एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न आश्रयों से अभिव्यक्त रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। इसमें भी विवेक की आवश्यकता रहती है। कोई इसे अच्छी ओर ले जाता है और कोई बुरी ओर धकेलता है। इसी के प्रभाव से कोई

उपकार करता है और अनाथों एवं दीन-दुखियों को सर्वस्व दे डालता है और कोई इसके प्रभाव से अपने सहोदरों तक के गले काट कर उनके द्रव्य का अपहरण कर लेता है। एक का प्रेम दूसरों की ओर है और दूसरे का उतना ही अपनी ओर होता है। जो अग्नि अपने लिए पाक तैयार करने में सहायक होती है वही एक शिशु को जला देती है। इसमें भला अग्नि का क्या दोष ? अग्नि तो अपना काम करती है। जिस रीति से उससे काम लिया जायगा उसी रीति से वह काम देगी। इसलिए अनेक काम करनेवाली अग्नि में भेद देखने की आवश्यकता नही है। भेद तो अग्नि के व्यवहार की रीति में है। इसी प्रकार प्रेम का व्यवहार जब लोक में किया जाता है तो वह संसार-चक्र पर चढ़ाता है और जब उसे सर्वात्मा में लगाया जाता है तो संसार-चक्र से छुड़ाता है। अतएव प्रेम (जो संयोग की उत्कट चेष्टा अथवा दो वस्तुओं के अत्यन्त निकट आ जाने तथा संयुक्त हो जाने की बलवती शक्ति है) की अनुचित दशा को मोह कहते हैं। वह निंदित है, किन्तु जो प्रेम योग-स्वरूप माना जाता है, जिसकी निर्मल अटूट धारा परमात्मा के प्रति सदैव बहती रहती है, वह भक्ति-प्रोग है। भक्ति-योग यह नहीं कहता कि 'यह छोड़ो, वह छोड़ो', वह तो इतना मात्र ही कहता है—"प्यार करो, उस प्रेम-रूप से प्यार करो।" जो उस सर्वोत्तम को अपना प्रेम-पात्र बनाता है, उसकी दृष्टि से अन्य सब वस्तुएँ गिर जाती हैं। वह और कुछ नहीं कह सकता, केवल इतना कह कर रह जाता है—"मैं तो तेरा कुछ भी वर्णन नहीं कर सकता। इतना कह सकता हूँ कि तू मेरा प्रिय है, तू सुन्दर है, तू महासुन्दर है, और स्वयं मूर्तिमान सौन्दर्य तू ही है।

भक्ति-मार्ग में आवश्यकता इस बात की है कि सौन्दर्य की तृष्णा प्रभु के प्रति रहे। मनुष्य के मुख पर क्या सुन्दरता है ? आकाश में क्या है ? तारों में क्या है ? चन्द्र में क्या है ? यह सब भगवत्सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब है। भगवत्-कान्ति से सब कुछ कान्ति-

मान् है। उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है। मानुष-हृदयों के योग्य यदि कोई आकर्षण है तो केवल भगवान्। उस हरि के सिवा भला मन का और कौन हरण करेगा ? जब तुम देखते हो कि कोई पुरुष किसी के सुन्दर रूप पर मोहित होकर पीछे चला जा रहा है तो यह समझते हो कि थोड़े से व्यवस्थित भौतिक परमाणु ही वास्तव में उस पुरुष को खीच रहे हैं। कभी नहीं, उन भौतिक परमाणुओं के पीछे भगवान् के प्रेम-स्वरूप की छटा रहती है। उस पवित्र प्रभाव की तरंग को ज्ञान-हीन पुरुष नहीं जान पाता है। वह जाने-चाहे न जाने, अवश्य उसी से आकर्षित होता है। भगवान् चुम्बक के समान हैं और हम सब लोग लोह की कीलों के समान हैं। हम उसके स्वरूप से आकृष्ट होते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं। वह भगवत्स्वरूप सब आकर्षणों का केन्द्र है। केवल उसकी सन्निधि प्राप्त करने की चेष्टा ही भक्ति-योग है। भक्ति के अतिरेक से सब लौकिक रूप और प्रलोभन दृष्टि और मन से गिर जाते हैं। यही भक्ति-मार्ग का वैराग्य तथा त्याग है। प्रभु की ओर आकर्षण होने से और सब आकर्षण विलीन हो जाते हैं। जब ऐसा बलवान् एवं अनन्त भगवत्प्रेम मानव-हृदय में प्रवेश करता है तो वह वहाँ किसी दूसरे के प्रेम के रहने के लिए अवकाश नहीं छोड़ता है।† भगवत्प्रेम का किसी के साथ द्वेष नहीं है, किन्तु भगवदनुराग के उदय होते ही तदितर में स्वतः ही वैराग्य हो जाता है। हरि-प्रेमी अपने इष्ट (हरि) को अन्तर्यामी एवं व्यापक रूप से सब में देखता है‡ और सब भगवत्प्रेमियों को अपना परिवार समझता है। वह जहाँ कहीं विशालता और सुन्दरना देखता है वहाँ भगवान् ही की छवि-छटा मानता है। चन्द्र-सूर्य से भी वह उसी के प्रकाश को देखता है। वह तो भयंकर विषधर तक को अपना शत्रु नहीं

---

† **प्रीतम छवि नैनन बसी, परछवि कहाँ समाय।**
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरिजाय।।. ..रहीम

‡ **'सियाराममय सब जग जानी' रामचरितमानस।**

मानता। सर्प-दंश को भगवदाह्वान मानता है। ऐसे ही भक्त को सार्वभौम भ्रातृत्व-भाव प्राप्त होता है। घृणा, असूया आदि निंदित भाव उसके अन्त:करण से निकल जाते हैं। जिसको अन्तर्यामी रूप में सर्वत्र अपने प्रभु की ही दृढ़ प्रतीति होती हो, वह किस पर क्रोध करे, किससे घृणा करे और किससे असूया करे? उसके पास किसी दुर्भाव की खोज व्यर्थ है। उसके पास केवल दुर्भावों का ही अभाव नहीं है अपितु अनेक सद्भाव भी भगवत्प्रेम के अतिरेक में विलीन हो जाते हैं।

अनन्य भक्ति

भगवान् को अनन्य भाव से प्रेम करना ही अनन्य भक्ति है। भगवान् में प्रेमभाव रखते हो तो अकेले उसी में रखिये। अन्य किसी में मत रखिये। जब तक ऐसा नहीं होगा, अनन्य भक्ति नहीं कहलाएगी। दैनिक अनुभव में आने वाली बात है कि किसी काम में जब तक पूरा मन नहीं लगता—मनोवृत्ति किसी दूसरी ओर भी विभक्त रहती है—उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिलती। किसी विस्तृत अनुभव के स्मरण की जितनी सभावना चित्त की एकाग्रदशा में होती है उतनी उसकी विभक्त दशा में नहीं होती। जब प्रेम का आलम्बन एकमात्र भगवान् ही होते हैं तो वृत्ति अन्यत: संकलित होकर समग्र वेग और शक्ति से भगवान् ही में लगती है। वही भाव उस भगवत्स्वरूप के योग्य भी ठहरता है। इस अनन्यता में अनन्य-भोग्यत्व, अनन्यशेषत्व और अनन्यधार्यत्व हैं। पीछे नकुल और कुलशेखर स्वामी के वचनों में हमने भक्ति के साथ 'एका' पद कहा था, वह इसी अनन्यता का वाचक है। अन्यत्र जीव और ईश्वर के मध्य जिस भर्तृ-भार्या सम्बन्ध की भावना का उल्लेख किया जा चुका है वह भी अनन्यता ही की ओर संकेत करती है। जहाँ भार्या के प्रेम में अनन्यता नहीं है, वहाँ प्रेम में व्यभिचार है। इसी से द्रुपद ने अव्यभिचारिणी भक्ति के लिए प्रार्थना की है। वे कहते हैं—"कीटों, पक्षियों, मृगों, साँप-कैंचुओं, राक्षसों, पिशाचों अथवा

मनुष्यों में भी जहाँ-कहीं मेरा जन्म हो, हे केशव ! आपके प्रसाद से आपही में मेरी अचला एवं अव्यभिचारिणी भक्ति हो।"*

नारदजी ने एक ही वाक्य में निपटारा कर दिया है—"हरि की प्राप्ति केवल अनन्य भक्ति से हो सकती है, और सब तो विडम्बना है।"† गीता में स्वयं भगवान् का वचन हैं—"हे पार्थ, मैं उस नित्ययुक्त योगी को सुलभ हूँ जो मुझे अनन्यचित्त होकर नित्यप्रति निरन्तर स्मरण करता है।"‡ गीता ही में अनन्य कहा गया है—"अनन्यचित्त से चिन्तन करते हुए जो जन मेरी पूर्ण उपासना करते हैं उन नित्य संलग्न भक्तों के योग-क्षेम का निर्वाह मैं करता हूँ।"¶

भक्ति योग के अधिकारी के लिए यह उचित है कि हृदय में उत्पन्न हुई मधुर वृत्तियों को अन्यथा न जाने दे। उनको अच्छी तरह वश में करके ऊँची गति देनी चाहिए। सर्वोत्तम गति वही है जिससे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सके। हर्ष-शोक का उदय और लय धूप-छाँह की भाँति इस जीवन में प्रायः होता ही रहता है। धन, पुत्रादिक के अभाव से जब मनुष्य शोकातुर होता है तो समझिये कि उसने शोकवृत्ति को अन्यथागति दी, क्योंकि शोक का भक्ति-उपयुक्त व्यवहार भी तो होता है। शोक के उपयुक्त व्यवहार की दशा में मनुष्य शोकाकुल इसलिए होता है कि उसे सर्वोत्तम भगवत्स्वरूप की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई।

---

* कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाचमनुजेष्वपि यत्र तत्र।
जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात्त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च॥

† "भक्त्यात्वनन्यया लभ्यो हरिरन्यत् विडम्बनम्।"

‡ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥] गीता

¶ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥] गीता

यही शोक उसके मोक्ष का सहायक बनता है। अब आप इसलिए हर्षित होते हैं कि आपको थोड़े से रुपये मिल गये तो समझिये कि आपने हर्षवृत्ति को उत्कृष्ट गति नहीं दी, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट भगवत्स्वरूप की सेवा में इस वृत्ति को नहीं लगाया। इसी प्रकार अन्यवृत्तियों में भी युक्त व्यवहार की आवश्यकता है। भक्त इतनी वृत्तियों में से एक को भी अन्यथा नहीं मानता है। वह तो सबको पकड़कर उत्साहपूर्वक प्रभु-अभिमुख कर देता है। चित्रकलाविद् होने पर भक्त भगवान् के ही मनोहरतम चित्र बनाने के लिए उत्सुक एवं संलग्न रहता है। शिल्पनिपुण होने पर भगवान् की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाता है। कवि होने पर अपनी शक्ति का प्रयोग भगवद्गुणगीत बनाने में करता है और यदि वह गाना जानता है तो हरिगुणगान करता है। यदि निपुण मालाकार है तो सुन्दर और उत्तम पुष्पों की मनोहर माला गूँथ कर भगवद्वि-ग्रह को सुशोभित करता है। आशय यह है कि भगवद्भक्त का जीवन भगवन्मय होता है। वह भगवत्कैंकर्यपरायण होता है और भगवान् से यही चाहता है—"हे पुण्डरीकाक्ष ! हमारा जीवन ऐसा कर दीजिए कि बँधी हुई अंजलि हो, झुका हुआ शिर हो, रोमांचित शरीर हो, गद्गदकंठ हो, साश्रुनेत्र हों और नित्य आपके युगल चरणारविंद के ध्यानामृत का आस्वादन करते रहें।"† उसके अन्तःकरण का भाव तो सदैव ऐसा रहता है—"निःसन्देह शरीर और शिर वही है जो कृष्ण को प्रणाम करने से धूलि लगकर धवल हो गया है; अन्धकारमुक्त सुन्दर नेत्र वही हैं जिनसे हरि-दर्शन होते हैं; निर्मल चन्द्र और शंख सी उज्जवल बुद्धि वही है जो माधव का ध्यान करे और अमृतवर्षिणी जिह्वा वही है जो पद-पद पर

---

† **"बद्धेनाजंलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः**
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णवाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना—
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्।"

नारायण की स्तुति करे।"‡ जब ऐसा भाव हो जाता है तो भक्त अपने सब अंगों को इस प्रकार प्रेरित करता है—"हे जीभ! तू केशव का कीर्तन कर, हे चित्त तू मुरारी को भज, हे पाणिद्वय! तुम श्रीधर का अच्छी तरह अर्चन करो, हे श्रवणद्वय! तुम अच्युत-कथा को सुनो; हे नेत्रद्वय! तुम कृष्ण के दर्शन करो; हे चरणद्वय! तुम हरि-मन्दिर में जाओ; हे नासिके! तू मुकुन्द की चरण-तुलसी को सूँघ; और हे शिर तू भगवान् के आगे झुक (भगवान् को प्रणाम कर)।"¶ कोई कोई भक्त लोग प्राणान्त के पश्चात् भी अपने अवयवों के विषय में यही विचारते हैं—"भगवदवतार अपने कोमल चरणों से जिस रमणीक भूमि पर टहलते हैं उस भूमि में इस शरीर का पृथ्वीतत्त्व जा मिले; उनके स्नानागार में इसका जलतत्त्व जा मिले; उनके आवास और उपवन में विहरने वाली सुस्पर्श वायु में इस शरीर का वायुतत्त्व जा मिले; भगवत्तेज में इसका तेजतत्त्व जा मिले अथवा शीत ऋतु में जिस अग्नि से भगवान् तपते हैं उसमें इसका तेजतत्त्व जा मिले और भगवद्धाम और विग्रह के आकाश में इसका आकाशतत्त्व जा मिले और यह जीवात्मा भगवत्स्वरूप के कैंकर्य में जा पहुँचे तो बस इसी में पूर्ण कृतकृत्यता है।" यही भाव रसखान ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा वश मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु-मँझारन॥

---

‡ "यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वैशिर—
स्तेनेत्रे तमसोज्झिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशंखधवला या माधवध्यायिनी
सा जिह्वाऽमृतवर्षिणी प्रतिपदं या स्तौति नारायणम्॥"

¶ "जिह्वे कीर्तय केशवं मुरारिपुं चेतोभज श्रीधरं,
पाणिद्वन्द्व समर्चयाऽच्युतकथां श्रोत्रद्वयत्वं श्रृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाऽधोक्षजम्।"

पाहन हों तो वही गिरि को, जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन;
जो खग हों तो बसेरो करों नित, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।।"

इन सब उक्तियों के पीछे एक आदर (श्रद्धा) का भाव रहता है। इसलिए भगवन्मन्दिरों और पवित्र स्थानों में लोग शिर झुकाते हैं क्योंकि वहाँ भगवान् का पूजन होता है। धर्म-शिक्षकों के आगे भी इसीलिए शिर नबाते हैं कि वे भगवत्स्वरूप का उपदेश करते हैं। जिसके प्रति प्रेम न हो उसका आदर कौन करता हैं ? इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में मनुष्य कितना सुख मानता है। वह विषयों से आकृष्ट होकर किसी भी भय में कहीं भी कूद पड़ता है। विषयों के प्रति हमारा आकर्षण जब भगवान् के प्रति हो जाता है तब वह भक्ति बन जाता है, किन्तु आकर्षण में वैसी ही तीव्रता और आकुलता होनी चाहिए। इसी भाव को तुलसीदास ने इस प्रकार व्यक्त किया है--

कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तरहिं प्रिय लागहु मोहि राम ।।

जब भक्त का हृदय एक अत्यन्त मधुर व्यथा का घर बन जाता है, जब वह अपने प्रियतम भगवान् के बिना तड़पने लगता है तो समझिये कि उसका प्रेम सफल है। भक्त की यह मनोदशा 'विरह' के अन्तर्गत आती है। जब भक्त यह देखता है कि वह एकमात्र ज्ञेय अपने प्रियतम को न जान सका, न पा सका, तो उसका मन व्यवस्थित नहीं रहता, वह उन्मत्त हो जाता है। उसे कोई दृश्य सुन्दर नहीं लगता। किसी सांसारिक रूप में उसका आकर्षण नहीं होता। वह तन्मय हो जाता है और उसे उन्मत्त की भाँति प्रियतम ही प्रियतम दीख पड़ता है। यही मनोदशा भक्त की "एकरतिवि-चिकित्सा" है। प्रियतम की स्मृति हृदय को विह्वल बना देती है। भक्त तो भगवान् के सम्बन्ध से ही सुनना चाहता है और उसी का गुणगान करता रहता है। उसे किसी दूसरे की वार्ता ही अच्छी

नहीं लगती।† उसका मैत्रीभाव उसी की ओर झुकता है जो केवल प्रभु की वार्ता करता है। कुछ और ऊँची मनोदशा में वह अपने जीवन को अपना नहीं समझता। वह उसका निर्वाह भगवान् के हेतु करता है। उसे यह जीवन इसलिए सुन्दर प्रतीत होता है कि वह भगवान् का मन्दिर है। उसमें और किसी की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है? यह उस मन्दिर का सौभाग्य है कि उसमें भगवान् की प्रतिष्ठा है। उसके लिए यही मानव-जीवन की सार्थकता है। "जिसको सब देव नमस्कार करते है और तो और मुमुक्षु और ब्रह्मवादी तक भी"‡ वह तो भक्त का सर्वस्व है, प्राण है। भक्त उसके बिना अत्यातुर हो जाता है।

भक्त लोग भगवान् की सब विभूतियों को सद्भाव से देखते हैं, किन्तु उनकी एक रीति है कि वे एक-एक को पृथक्-पृथक् प्यार न करके सबके स्वामी परम प्रेमस्वरूप प्रभु में अपनी भक्ति स्थिर करते हैं। इससे प्रेम स्वतः ही सर्वत्र फैल जाता है। इस स्थितिवालों को 'तदीयता' की प्रतीति होती है। जो कुछ है, सब प्रभु का ही है, वे ऐसा विचार करते हैं और उन्हें सब वस्तुओं में पवित्रता दीखने लगती है क्योंकि अपने प्रियतम का जो कुछ भी है वह प्यारा है। दैनिक अनुभव की बात है कि लोक में अपने प्रियतम की सब वस्तुएँ प्यारी लगती हैं। इसी प्रकार भक्ति के भगवान् में सम्पन्न हो जाने पर भक्त को सारा जगत् प्यारा लगता है; क्योंकि यह सब उस हृदयेश की विभूति है। इसी स्थिति में तुलसीदासजी कहते हैं—

"सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।"

एक रामभक्त से किसी ने पूछा—'यह स्थान किसका है?' वह बोला—'श्री रघुनाथजी का।' 'यह बाग किसका है?' 'श्री रघु-

---

† 'अन्यां वाचं विमुंचथ'

‡ 'यं सर्वे देवा नमस्यन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति'।

नाथजी का।' 'ये दास किसके हैं ?' 'श्री रघुनाथजी के।' इसी प्रकार वह अपनी सब वस्तुओं को रघुनाथजी की बताता चला गया। अन्त में पूछनेवाले ने पूछा—'रघुनाथजी किसके हैं ?' उसने उत्तर दिया—'मेरे।' जब सर्वस्व पर भगवदधिकार की मान्यता सिद्ध हो जाती है तभी समर्पण की भावना का उदय होता है। इसी भावना को कबीर के शब्दों में देखिये—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मेरा ॥

जो सर्वत्र 'सर्वभूतमय हरि' को देखते हैं, वे किसी को दुःख कैसे दे सकते हैं। उनका हृदय प्रेमप्रवाह का अखण्ड स्रोत बन जाता है। भक्त को और चाहिए भी क्या ? उसे तो अखण्ड प्रेम चाहिये। वह मोक्ष तक नहीं चाहता—

'भक्ति देहु अनपावनी, पद न चहौं निर्वान।'—तुलसीदास

क्योंकि भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप है—

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेमस्वरूप।
एकहि ह्वै द्वै मैं लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप ॥—रहीम

भक्त प्रेमप्रवाह में क्षणिक बाधा भी सहन नहीं कर सकता।‡

जब अविच्छिन्न प्रेमधारा अनवरत प्रभु की ओर बहती है तो उस हृदयेश के अतिरिक्त किसी दूसरे को उसमें प्रवेश करने का अवकाश नहीं मिलता। उस समय माया के बन्धन टूटने लगते हैं और पवित्रता उज्ज्वल हो जाती है।

प्रायः लोकप्रेम का सामान्य आधार पारस्परिकता है। जहाँ बदला मिलता है वहाँ यह बना रहता है। जहाँ बदला नहीं मिलता

---

‡ सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्ध जड़ मूढ़ता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि, वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥—मार्कण्डेय

तथाच—

निमिषं निमिषार्द्धं वा प्राणिनां विष्णुचिन्तनम्।
क्रतुकोटिसहस्राणां ध्यानमेकं विशिष्यते ॥—अगस्त्यजी

वहाँ प्रेम में प्रायः शिथिलता एवं उदासीनता आजाती है। यह स्वाभाविक प्रेम का लक्षण नहीं है। प्रेम के लिए प्रेम करना प्रेम का स्वाभाविक और उत्कृष्ट स्वरूप है। सत्प्रेम विनिमय और व्यापार से परे की वस्तु है! वह लेन-देन नहीं जानता। जब तक हृदय लौकिक आकांक्षाओं का आवास बना रहता है, जब क वह इच्छा-मुक्त नहीं होता, तब तक प्रेम में गम्भीरता और अनन्यता नहीं आसकती। अतएव सत्प्रेम का बदला कुछ नहीं है, केवल प्रेम है। जिस प्रकार सुन्दर दृश्य से आप कुछ याचना नहीं करते, वह केवल आपका आल्हादन करता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त भक्ति से कुछ चाहता नहीं है। वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। उससे उसे आनन्द मिलता है।

सच्चे प्रेम की अवस्था का एक परिचय यह है कि उसमें भय के लिए कोई अवकाश नहीं है। सच्चा प्रेम भय से नहीं होता। भय से शासन हो सकता है, निरंकुशता और स्वच्छन्दता पर अधिकार हो सकता है, परन्तु भय से प्रेम का उदय नहीं हो सकता। जिस प्रेम को भय से माना जाता है वह सच्चा प्रेम नहीं, केवल दिखावे का होता है। भय के ऊपर प्रेम की सदा विजय होती है। मृत्यु कितनी भयंकर है, किन्तु प्रेमविजित सतियों का हृदय उससे तनिक भी विचलित नहीं होता। हो सकता है कि कोई स्त्री कुत्ते के भौंकने तक से घर छोड़कर निकल भागे, किन्तु ऐसे उदाहरण हैं जिनमें ऐसी स्त्रियों ने सिंह के आक्रमण के समय प्रेम के आवेश में अपने शिशु की रक्षा के लिए अपने प्राण तक खोदिये हैं। इस प्रकार भय को प्रेम जीत लेता है। प्रेम-मार्ग मलीन और दुर्बल नहीं है। वह तो अति निर्मल और सबल है। इसलिए सच्चे भक्त निर्भय-पद को प्राप्त होते हैं। श्री यामुनाचार्य स्वामी ने भक्त के लिए 'गतभी' और 'अभी' विशेषणों का प्रयोग किया है जो उचित है। भय में कुछ दुःख का अंश रहता है और प्रेम अथवा भक्ति में आनन्द की लहरें उठती हैं जिनका दुःख के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता है।

सत्प्रेमदशा का तीसरा परिचय यह है कि आश्रय को (भक्त को) आलम्बन (भगवान्) के समान और कोई नहीं दीखता। जो अपनी दृष्टि में सर्वोत्तम नहीं उसके साथ सर्वोत्तम प्रेम कैसे किया जासकता है। कभी-कभी अयोग्य स्थल में भी प्रेम होजाता है, किन्तु प्रेमी के विचार में प्रिय सर्वोत्कृष्ट होता है। लैला के प्रति मजनूँ का प्रेम इसी प्रकार का था। भगवान् के रूप, गुण और विभूति अद्वितीय हैं। उनकी कहीं समता नहीं है। ऐसे भगवान् में जिसका स्वाभाविक प्रेम होजाता है, वह मनुष्य सुबुद्धि हो चाहे अबुद्धि, महात्मा चाहे दुरात्मा, पुरुष चाहे स्त्री, पढ़ा-लिखा हो चाहे कुपढ़, उसका सर्वस्व भगवान् ही होता है—वह भगवान् जिसमें सौन्दर्य, विशालता और सामर्थ्य आदि पूर्ण हैं, जिसका समकक्ष कोई और नहीं है। ऐसा प्रेमी स्वार्थ और भय की परिधि से बाहर अयाचन्त होकर अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर देता है। जब भक्ति निर्भय हो जाती है और समर्पण की भावना दृढ़ बन जाती है तो ऐसे प्रश्न नहीं उठते कि 'परमेश्वर युक्तियों से सिद्ध हो सकता है वा नहीं? 'वह सर्वज्ञ और [illegible] है वा नही? प्रेम में एक विचित्र मधुरता हुआ करती है जो मनुष्य की प्रकृति को हिला देती है और जो उसके अस्तित्व के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त होजाती है। तब स्वतः ही उसका प्रभु से सम्बन्ध-भाव सजग हो जाता है। इसी दशा में किसी भक्त को यह भाव प्रत्यक्ष होजाता है कि "प्रभु ही एक मात्र पुरुष है, इतर हम सब स्त्री हैं।" किसी को यह भाव प्रत्यक्ष होता है कि "प्रभु पिता है हम सब उसकी सन्तान हैं।" इसी प्रकार किसी को दास्य भाव और किसी को सख्य भाव प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रभु से बढ़कर न कोई सुन्दर है, न विशाल है, न विभूतिवान् है, न दयालु है; न पवित्र है, न उदार है; न मृदु है, न मधुर है, न सामर्थ्यवान है, और न प्रियदर्शन है तथा जिस प्रेम-सागर में सब भक्तों के हृदयों की प्रेम सरिताएँ गिरती हैं, ऐसे प्रियतम के सिवा और कौन है जो पति बनने के योग्य ठहरे?

अथवा स्वामी, सखावा बन्धु बनने । की योग्यता भी किसमें है ? ऐसी उत्तम भक्ति की दशा में मुक्ति की कौन परवाह करता है ? भला जो भक्त भगवान् के परम पावन प्रेमस्वरूप में विलीन हुआ बैठा है अथवा परम पवित्र प्रेम की उन्मत्तता का आनन्द भोग रहा है, वह मुक्ति-भुक्ति की परवाह ही कब कर सकता है ? वह तो नित्य निरन्तर प्रवाहमान भक्ति-रस की धारा चाहता है । उसे मुक्ति-भुक्ति की वांछा नहीं होती । वे तो उसके भक्ति-भाव की दासी बनी रहती हैं । श्री यामुनाचार्यजी भगवान् से निवेदन करते हैं:—

'हे भगवन् ! जिस प्रकार मुझको मुझमें नित्य रहने वाली भवदीयता का आपने स्वयं बोध कराया है, वैसे ही कृपा करके अनन्यभोग्यता भक्ति भी मुझे प्रदान कीजिये‡ ।''

भक्ति और ज्ञान

ऊपर श्री आचार्यजी ने भक्ति को बोध (ज्ञान) से ऊँचा माना है क्योंकि उनकी तृप्ति केवल बोध से नहीं होती । वे तो अनन्यभोग्यता भक्ति चाहते हैं; अतएव वही उनका साध्य है । जिस प्रकार प्रयाग के ज्ञान से (प्रयाग कहाँ है ? कैसा है ?) ही प्रयाग पहुँचना संभव नहीं है, चलने पर ही प्रयाग का मिलना संभव है उसी प्रकार भगवान् भक्ति से मिलता है, ज्ञान से नहीं मिलता । यहाँ भक्ति ही गति है । इसी से जीवात्मा परमात्मा की ओर खिचता है । स्वरूप तथा सम्बन्ध का ज्ञान होने से बोध अवश्य होता है, परन्तु दो वस्तुओं के बीच जितनी दूरी होती है वह उतनी ही बनी रहती है । जैसा कि ऊपर के उदाहरण से व्यक्त है। बोधमात्र से बीच की दूरी हठकर समीपता नहीं आजाती । जीवात्माओं के आपस में समीप खिच आने की शक्ति को प्रेम कहा जासकता है, किन्तु परमात्मा की ओर जीवों के खिचने की शक्ति को 'भक्ति'

---

‡ "अवबोधितवानिमां यथा मयि नित्यां भवदीयतां स्वयं ।
कृपयैवमनन्यभोग्यतां भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे ।।"

सत्प्रेमदशा का तीसरा परिचय यह है कि आश्रय को (भक्त को) आलम्बन (भगवान्) के समान और कोई नहीं दीखता। जो अपनी दृष्टि में सर्वोत्तम नहीं उसके साथ सर्वोत्तम प्रेम कैसे किया जासकता है। कभी-कभी अयोग्य स्थल में भी प्रेम होजाता है, किन्तु प्रेमी के विचार में प्रिय सर्वोत्कृष्ट होता है। लैला के प्रति मजनूँ का प्रेम इसी प्रकार का था। भगवान् के रूप, गुण और विभूति अद्वितीय हैं। उनकी कहीं समता नहीं है। ऐसे भगवान् में जिसका स्वाभाविक प्रेम होजाता है, वह मनुष्य सुबुद्धि हो चाहे अबुद्धि, महात्मा चाहे दुरात्मा, पुरुष चाहे स्त्री, पढ़ा-लिखा हो चाहे कुपढ़, उसका सर्वस्व भगवान् ही होता है—वह भगवान् जिसमें सौन्दर्य, विशालता और सामर्थ्य आदि पूर्ण हैं, जिसका समकक्ष कोई और नहीं है। ऐसा प्रेमी स्वार्थ और भय की परिधि से बाहर अयाचन्त होकर अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर देता है। जब भक्ति निर्भय हो जाती है और समर्पण की भावना दृढ़ बन जाती है तो ऐसे प्रश्न नहीं उठते कि 'परमेश्वर युक्तियों से सिद्ध हो सकता है वा नहीं? 'वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है वा नहीं? प्रेम में एक विचित्र मधुरता हुआ करती है जो मनुष्य की प्रकृति को हिला देती है और जो उसके अस्तित्व के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त होजाती है। तब स्वतः ही उसका प्रभु से सम्बन्ध-भाव सजग हो जाता है। इसी दशा में किसी भक्त को यह भाव प्रत्यक्ष होजाता है कि "प्रभु ही एक मात्र पुरुष है, इतर हम सब स्त्री हैं।" किसी को यह भाव प्रत्यक्ष होता है कि "प्रभु पिता है हम सब उसकी सन्तान हैं।" इसी प्रकार किसी को दास्य भाव और किसी को सख्य भाव प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रभु से बढ़कर न कोई सुन्दर है, न विशाल है, न विभूतिवान् है, न दयालु है; न पवित्र है, न उदार है; न मृदु है, न मधुर है, न सामर्थ्यवान है, और न प्रियदर्शन है तथा जिस प्रेम-सागर में सब भक्तों के हृदयों की प्रेम सरिताएँ गिरती हैं, ऐसे प्रियतम के सिवा और कौन है जो पति बनने के योग्य ठहरे?

अथवा स्वामी, सखा वा बन्धु बनने । की योग्यता भी किसमें है ? ऐसी उत्तम भक्ति की दशा में मुक्ति की कौन परवाह करता है ? भला जो भक्त भगवान् के परम पावन प्रेमस्वरूप में विलीन हुआ बैठा है अथवा परम पवित्र प्रेम की उन्मत्तता का आनन्द भोग रहा है, वह मुक्ति-भुक्ति की परवाह ही कब कर सकता है ? वह तो नित्य निरन्तर प्रवाहमान भक्ति-रस की धारा चाहता है । उसे मुक्ति-भुक्ति की वांछा नहीं होती । वे तो उसके भक्ति-भाव की दासी बनी रहती हैं । श्री यामुनाचार्यजी भगवान् से निवेदन करते हैं:—

'हे भगवन् ! जिस प्रकार मुझको मुझमें नित्य रहने वाली भवदीयता का आपने स्वयं बोध कराया है, वैसे ही कृपा करके अनन्यभोग्यता भक्ति भी मुझे प्रदान कीजिये‡ ।"

ऊपर श्री आचार्यजी ने भक्ति को बोध (ज्ञान) से ऊँचा माना है क्योंकि उनकी तृप्ति केवल बोध से नहीं होती । वे तो अनन्यभोग्यता भक्ति चाहते हैं; अतएव वही उनका साध्य है । जिस प्रकार प्रयाग के ज्ञान से (प्रयाग कहाँ है ? कैसा है ?) ही प्रयाग पहुँचना संभव नहीं है, चलने पर ही प्रयाग का मिलना संभव है उसी प्रकार भगवान् भक्ति से मिलता है, ज्ञान से नहीं मिलता । यहाँ भक्ति ही गति है । इसी से जीवात्मा परमात्मा की ओर खिचता है । स्वरूप तथा सम्बन्ध का ज्ञान होने से बोध अवश्य होता है, परन्तु दो वस्तुओं के बीच जितनी दूरी होती है वह उतनी ही बनी रहती है । जैसा कि ऊपर के उदाहरण से व्यक्त है । बोधमात्र से बीच की दूरी हठकर समीपता नहीं आजाती । जीवात्माओं के आपस में समीप खिच आने की शक्ति को प्रेम कहा जासकता है, किन्तु परमात्मा की ओर जीवों के खिचने की शक्ति को 'भक्ति'

भक्ति और ज्ञान

---

‡ "अवबोधितवानिमां यथा मयि नित्यां भवदीयतां स्वयं ।
कृपयैवमनन्यभोग्यतां भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे ।।"

कहना ही अधिक उपयुक्त है, यद्यपि उसे प्रेम संज्ञा देने में भी कोई हानि नहीं है।

कुछ ज्ञानवादियों का यह कहना है कि जीव के उद्धार के लिए ज्ञान के सिवा कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। यहाँ ज्ञान का अभिप्राय और भक्तिक्षेत्र में उसकी संगति का समझ लेना आवश्यक है। इस मंत्र को देखिये-"वेदाहमेनं पुरुषं····नान्यपन्था विद्यते अनाय।" इसमें चूल्हे-चक्की अथवा जीव को ईश्वर मानने का नाम तो ज्ञान कहा नहीं है। 'तमेव' कह कर केवल परमात्मा का ज्ञान लिया है जिसका समावेश अन्यत्र कहे हुए नौ सम्बन्धों में से ज्ञातृज्ञेय-भाव में हो सकता है। उसका प्रयोजन यही है कि ज्ञेय (जानने योग्य) एक मात्र परमात्मा है। गीता में कृष्ण ने अपने इस वाक्य में स्वयं घोषित किया है-"सर्वेषु वेदेष्वहमेव वेद्यम्" (सब वेदों में जानने योग्य मैं ही हूँ) "वेद-वेद्ये परे पुंसि" से भी यही भाव व्यक्त होता है कि 'वेद में जानने योग्य परमात्मा ही है।' यदि प्रयाग के यात्री को प्रयाग का ज्ञान नहीं है तो यह संभव है कि वह रावलपिंडी पहुँच जाए। इस अज्ञानयुक्त कार्य से यात्री का अनिष्ट होगा। इसी प्रकार मानव, यह जाने बिना कि भक्ति करने योग्य एक परमात्मा ही है, भक्ति करने लगे तो आलम्बन में भूल होने से संसार-बंधन उच्छिन्न नहीं होता। इसीलिए 'ज्ञान के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है,' यह वाक्य भक्ति-पद्धति के साथ असंगत सिद्ध नहीं होता। यदि यात्री ने पहले से ही अपना मुख प्रयाग की ओर कर रक्खा है तो रावलपिंडी पहुँचने की बात ही कहाँ उठती है? स्वरूप तथा सम्बन्ध-ज्ञान के ठीक-ठीक होने की दशा में भक्ति विशेष सुगम बन जाती है। इसी कारण भगवान् कृष्ण ने गीता में ज्ञानी भक्त को सबसे अच्छा कहा है।

ज्ञान-पक्षधरों का कहना है कि मोक्ष-प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है, भक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

उन्हें आवश्यकता की प्रतीति ही क्यों हो ? उनके चिन्तन की पद्धति ही दूसरी है। पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति नाम गति (चलना) का है। गन्तव्य गति के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जब चलोगे तभी पहुँच सकोगे। जिनके मन में चलना है ही नहीं उनके लिए पहुँचने की बात भी व्यर्थ है। भक्ति-मार्ग में जीव अणु है। उसका परस्वरूप वैकुण्ठनाथ की सन्निधि में पहुँचना है। यही उसका अन्तिम एवं एकमात्र लक्ष्य है। उसको प्राप्त करने के लिए मध्यवर्तिनी दूरी को मिटाकर वासुदेव के सान्निध्य में ले पहुँचने वाली शक्ति की आवश्यकता है। यह शक्ति केवल भक्ति में है, और किसी में नहीं। जो लोग केवल ज्ञान से मोक्ष मानते हैं उनके मत से जीवात्मा और परमात्मा दास-स्वामी के नित्य सम्बन्ध से युक्त दो वस्तु ही नहीं हैं। वे आत्मा को एक और विभु मानते है। आत्मा की विभुता से तात्पर्य है कि एक ही आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। जो सच्चिदानन्द नाम से विख्यात है उसमें यत्रतत्र कल्पित अज्ञान के भ्रमर (चकपहिए) पड़ गये हैं। वह भ्रान्त अंश जीव नाम से अपनी कल्पना करता है। जब अज्ञान का भँवर टूटता है तो ज्ञान की सहजावस्था ही मुक्ति है। कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार घट के फूटने पर घटाकाश मठाकाश में विलीन हो जाता है अथवा मठ के टूटने से मठाकाश महदाकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार, उनके विचार से, जीवात्मा और परमात्मा की व्यवस्था है। उनका मत है कि घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश वास्तव में एक ही हैं। सब में एक ही आकाश की व्याप्ति है। भिन्नता केवल घट-मठादि की उपाधि से प्रतीत होती है। इसी प्रकार एक ही विभु (आकाश के समान व्यापक) आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। केवल अज्ञान की उपाधि से नानात्व आभासित हो रहा है। अज्ञान के हटते ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं होती। मोक्ष की यह

कल्पना ही विचित्र है। भक्त लोग इस मोक्ष की कभी इच्छा नहीं करते। न यह शायद उनकी कल्पना में ही कभी आता है। भक्ति-क्षेत्र में जीवात्मा को अणु माना जाता है। उसका माया-मण्डल के बाहर परमात्मा के दिव्य मंगल विग्रह की सन्निधि में पहुँचना ही मोक्ष है। इसके लिए भक्ति की आवश्यकता है क्योंकि परमात्मा के समीप पहुँचाने वाली शक्ति यही है।'

भक्ति-क्षेत्र मे ज्ञान-क्षेत्र की अभेद दृष्टि विकल सिद्ध होती है। भक्त जीवात्मा और परमात्मा में भेद देखता है, दोनों के बीच में एक दूरी देखता है। उसी दूरी को मिटाने के लिए 'भक्ति' की शक्ति काम करती है। वेद-शास्त्रों मे ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनसे 'भेद' सिद्ध होता है। वेद के वाक्य को देखिये—

"आत्मनि तिष्ठन्नात्मामन्तरो"

पुनश्च,

"पृथगात्मानं प्रेरितं च मत्वा"

इससे जीवात्मा और परमात्मा की भेद-सिद्धि होती है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि जीव अणु है और भगवान् शुद्ध अन्तर्यामी है। जीव परिणामी है और परमात्मा अपरिणामी है। दोनों अज हैं। बद्ध जीव कर्मादि के फल से माया बन्धन में रहते हैं, किन्तु परमात्मा माया-बन्धन से बाहर है। वह माया का स्वामी है। भक्ति दास को माया के बन्धन से निकाल कर परमात्मा के समीप लेजाने वाली शक्ति है। ऐसी शक्ति का परित्याग नहीं किया जा सकता। परित्याग उसी वस्तु का करना चाहिए जो मिथ्या हो, अनित्य हो। यदि माया का बन्धन भी मिथ्या मान लिया जाए तो भक्ति को भी मिथ्या माना जा सकता है, किन्तु आप्त-शास्त्र-वाक्यों से यह सिद्ध है कि परमात्मा, जीवात्मा और माया, तीनों नित्य हैं, तीनों सत्य हैं। परमात्मा धारक है, नियामक है, और शेषी है। जीवात्मा तथा माया धार्य हैं, नियाम्य हैं तथा शेष हैं। नित्य जीव नित्यविभूति का आनन्द भोगते हैं, माया

बन्धन में नहीं आते। मुक्त जीव माया-बन्धन को छोड़ चुके हैं और बद्ध जीव माया में बँधे हुए हैं। माया परमात्मा की है। परमात्मा उसे जिस जीव से हटाना चाहता है, हटा देता है। परमात्मा का दिव्य मंगल विग्रह माया-मण्डल से परे है। जीव को उस विग्रह का दर्शन मिलना चाहिए, उसकी सन्निधि में पहुँचना चाहिए। यह सिद्धि भक्ति से मिलती है।

परभक्ति, पर ज्ञान और परमा भक्ति

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि जो जानने योग्य है, उपासना करने योग्य है, भक्ति करने योग्य है अथवा प्राप्त करने योग्य है, वह परमात्मा ही है। यह ज्ञान वेद-शास्त्रों द्वारा होता है, किन्तु यह ज्ञान ऐसा है जैसा चित्र में प्रयाग-दर्शन। मुण्डकोपनिषद् में लिखा भी है:—

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह्स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति। पराचैवापराच। तत्रापरा ऋग्वेदोयजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षाकल्पोव्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते—" अर्थात् ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं कि जानने योग्य विद्या दो प्रकार की है: परा (ऊँची) और अपरा (नीची)। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष—यह अपरा है, तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा है। इस दृष्टि से वेद-शास्त्र भी, जब तक एक मात्र ज्ञेय भगवान् का ज्ञान नहीं कराते, अपरा विद्या ही ठहरते हैं। परा विद्या इससे ऊँची ठहरी, क्योंकि इससे परमात्मा जाना जाता है। यह भी ज्ञान ही है, किन्तु वैसाही जैसा चित्र द्वारा प्रयाग का ज्ञान। चित्र द्वारा भी ज्ञान तो प्रयाग का ही हुआ, अजमेर का नहीं; परन्तु चित्र-दर्शन और साक्षात्-दर्शन में अन्तर है। प्रयाग को चित्र में देखकर हम अपने को प्रयाग में पहुँचा हुआ नहीं मान सकते, किन्तु चित्र में प्रयाग देख कर एक लक्ष्य अवश्य बन जाता है। उसके देखने की लालसा अवश्य सजग हो जाती है। प्रयाग दर्शनीय स्थल है, अवश्य देखना चाहिए—यह

भाव जाग्रत होजाता है। इस प्रकार का पूर्ण अनुराग 'परभक्ति' है। इसको साक्षात्कार-अभिनिवेश कहते हैं। फिर प्रत्यक्ष-दर्शन होने पर 'पर ज्ञान' की अवस्था कहलाती है। प्रत्यक्ष-दर्शन के उपरान्त सेव्य-स्वरूप के प्रति अत्यन्तानुरक्ति (ऐसी अनुरक्ति कि किंचिन्मात्र अन्तर न रहे) ही परमाभक्ति है। इसको अनुभवाभिनिवेश कहते हैं। इस विषय के समझने के लिए भर्तृहरिशतक का यह उदाहरण उपयुक्त है—

अदर्शने दर्शनमात्रकामा, दृष्टे परिष्वङ्गरसैकलोलाः ।
आलिङ्गितायां पुनरायताक्षां आशास्महे विग्रहयोरभेदम् ।।

यहाँ अदर्शन-दशा में दर्शनमात्र की कामना ही मानों परभक्ति है। दर्शन होना (साक्षात्ज्ञान) परज्ञान समझिये। फिर परिष्वंग रस के लिए एक मात्र लोलत्व एंव विग्रहाभेद की आशा (उत्कट इच्छा) ही मानों परमाभक्ति है। श्लोकगत लौकिक भावना को परमात्मा में पलट देने पर परभक्ति, परज्ञान और परमाभक्ति के सुन्दर उदाहरण बनते हैं।

परमाभक्ति की शर्त यह है कि वह अव्यभिचारिणी हो। उसी के वश में प्रभु होते हैं। अव्यभिचारी भक्त के प्रति ही 'पत्रं, पुष्पं, फलं आदि' वचनों की घोषणा है। यह जानते हुए भी कि परमात्मा की कृपा सब पर होती है, भक्त लोग उसकी कृपा को अपनी-अपनी ओर चाहते हैं। जीव एकमात्र परमात्मा ही का भोग्य है। अनेक होने पर भी जीव किसी अन्य के दास नहीं हो सकते। परमात्मा ही को इनका स्वामित्व प्राप्त है। यदि जीव इस स्वामित्व में किसी दूसरे को भी अवकाश देते हैं तो उन्हें व्यभिचार दोष लगता है। इस दोष से परमात्मा मुक्त है। नाना जीवों में से प्रभु-कृपा एक पर या अनेक पर होने से प्रभु दोषी नहीं होते क्योंकि वे तो सबके एक ही स्वामी हैं। लौकिक व्यवहार में भी प्रायः ऐसा देखते हैं। एक पिता के दो छोटे-छोटे बालकों की कल्पना कीजिए। उनमें से एक पिता की गोद में बैठ कर, पिता की ओर अँगुली का

संकेत कर कर के, सुनाता है–'यह तो मेरे ही पिता जी हैं।" यह सुनते ही दूसरा भागकर पिता की गोद में आचढ़ता है और वैसे ही संकेत से वही बात कहता है। प्रेम का बस यही स्वभाव है। गोपियाँ कृष्ण को जगन्नाथ रूप में नहीं भजतीं, गोपीनाथ रूप में ही भजती हैं मानों गोपीनाथ कहने से भगवत्कृपा उनके ही भाग में आती हो। सच तो यह है कि प्रेम का मार्ग ही निराला है। सच्चा प्रेमी अपने प्रिय के सिवा सब कुछ भूल जाता है। प्रिय का रूप, उसकी अलौकिक माधुरी ही प्रेमी की दृष्टि में भरजाती है। धन, कीर्ति आदि सब उसकी दृष्टि से गिर जाते है। इस दशा को प्राप्त करके ही प्रेमी गोपियों की दशा को समझ सकेगा। गोपियों की भक्ति परम प्रेमरूपा है।*

तत्त्वज्ञान की कोई मात्रा प्रेमोन्माद की समता नहीं कर सकती। तत्त्वज्ञान में शनैः शनैः लक्ष्य पर पहुँचने की शिक्षा दी जाती है, किन्तु प्रेम के प्याले से प्रेमी शीघ्र ही मद-विह्वल हो जाता है। आनन्दोन्माद छा जाता है। गोपियों का प्रेमोन्माद इसी प्रकार का था। काला-पीला, श्वेत-श्याम, दायाँ-बायाँ, ऊँचा-नीचा जो कुछ था, बस कृष्ण था। पत्ती-पत्ती और कण-कण में कृष्ण ही की माधुरी दृष्टि-गोचर होती थी। गोपियों को यह जानने की परवाह नहीं थी कि कृष्ण सब जगत् के स्वामी है, सर्वशक्तिमान हैं, सर्व-व्यापक हैं वा अत्यन्त महान् हैं। वे तो कृष्ण-स्वरूप को केवल अनन्त प्रेम समझती थीं और गोपाल जानती थीं। ऐसे भाव के सामने मोक्ष भी तुच्छ है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार परमात्मा की न्याय-व्यवस्था विश्रृंखल नहीं होती ? यह माना हुआ सत्य है कि शुभाशुभ कर्मो के शेष रहते हुए मोक्ष संभव नहीं है। तो फिर यह भी कैसे कहा जा सकता है कि गोपियाँ मोक्ष की दशा में थीं,

---

* **"सा तु परमप्रेमरूपा यथा व्रजगोपिकानाम्।"**

अथवा उससे भी ऊँची दशा प्राप्त कर चुकी थीं ? यह मानना भी क्या समुचित होगा कि गोपियों के सब संचित कर्म उसी समय समाप्त होने को आ गये थे ।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इससे परमात्मा की न्याय-व्यवस्था नहीं बिगड़ती । ध्यानपूर्वक दृक्पात करने पर विदित हो जाता है कि उक्त न्याय-व्यवस्था भी ऐसे भक्ति-भावों की दासी हो जाती है । एक श्लोक में यह स्पष्ट हो गया है कि
 के चिन्तन से एक गोपी को इतना भारी आल्हाद हुआ कि उसके सब पुण्य समाप्त हो गये और उसकी अप्राप्ति में इतना भारी दुःख हुआ कि उसके सब पातक समाप्त हो गये । इस प्रकार वह गोपी 'मुक्त' हो गई ।"¶

भक्ति के प्रकार

भक्ति के नौ प्रकार माने गये हैं†:–(१) श्रवण । (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पाद-सेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य, (९) और, आत्म-निवेदन । इन सब भावों का सम्बन्ध विष्णु से है अर्थात् ये सब भाव नारायण में होने चाहिए ।

भगवद्विषय का सुनना 'श्रवण' है, भगवद्गुणों का कथन 'कीर्तन' है और भगवद्गुणों की स्मृति ही 'स्मरण' है । भगवच्चरणों का सेवन ही 'पाद-सेवन' है । भगवत्-शरीर (प्रतिमा आदि का) प्रसाधन (विलेपनादि) 'अर्चन' है । भगवान् की स्तुति को वन्दन कहा जाता है । भगवान् के प्रति 'सेव्य' भाव रख कर अपने को 'सेवक'

¶ तच्चिन्ताविपुलाल्हाद क्षीणपुण्या च या तथा,
तद्प्राप्तिर्महादुःखविलीनाशेषपातका ।
निःश्वासतया मुक्तिगतान्या गोपकन्यका ।।

† श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
भागवत, सप्तम स्कंध

रूप में स्वीकार करना 'दास्य' भाव है। भगवान् को 'सखा' (मित्र) रूप में स्वीकार करना 'सख्य' भाव है और भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना 'आत्म-निवेदन' है।

१. प्रेमियों का आचरण ही विचित्र होता है। उनको अपने प्रियतम की 'चर्चा' सुनना जितना सुहाता है उतना अन्य किसी की 'चर्चा' सुनना नहीं सुहाता। जहाँ प्रियतम के रूप-स्वरूप, गुण-विभूति का प्रसंग होता है वहाँ से परम प्रेमियों के कान हट ही नहीं पाते। कर्ण 'नान्यं श्रृणोमि' कह कर प्रेमी के पूताचार को प्रतिष्ठित करते हैं। कुलशेखर स्वामी अपने श्रवणों को अच्युत-कथा ही के सुनने का आदेश देते हैं ('अच्युत-कथां श्रोत्रद्वय त्वं श्रृणु')। यह सत्य है कि मनुष्य के 'बोध' पर 'श्रवण' का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इस कारण भगवद्-विषय सुनना ही उचित है। भागवत्-चतुर्थ स्कंध में कहा भी है—'हे नाथ! जहाँ आपके चरणारविंद का आसव (मकरन्द) न हो, ऐसी कामना मैं न करूँ। यदि (प्रसन्न होकर) आप मुझे वर देते हैं तो यह दीजिए कि सन्तजनों के अन्तर-हृदय में से मुख द्वारा स्रवित (उस आसव) को पान करने के लिए मेरे अयुत (दस सहस्र) श्रवण हों।‡

श्रवणविषयक इस उक्ति में तथ्य है। यदि भक्तों से भगवच्चरित्र न सुना जाय अथवा गुरु से सदुपदेश न सुना जाय तो फिर अवलम्ब किसका लिया जाय? इसी भाव को यह चौपाई व्यक्त करती है:—

श्रवण किये बिन नर कह ध्यावैं।
जैसे अन्ध न मारग पावैं॥
श्रवण सुने बिन कछू न जानैं।
बिन जाने वस्तु न पहिचानैं॥

---

‡ तदप्यहं नाथ न कामये क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तरहृदयान्मुखच्युतो विधत्स्वकर्णायुतमेष मे वरः॥
भाग०, स्कंध ४,

बिना श्रवण अनुराग न होय।
यह निश्चय जानों सब कोय।

२. यह कहा जा चुका है कि कीर्तन से अभिप्राय भगवद्विषयक कथन है। हरिनाम-संकीर्तन, हरि-चर्चा, भगवद्‌गुण-वर्णन, अथवा भगवद्‌गुण-व्याख्यान, नारायण की स्तुति, भगवच्चरित्र-गान, भगवत्कथा-प्रसंग, भगवत्स्वरूप-व्याख्या आदि 'कीर्तन' के ही अन्तर्गत हैं। संजय का कहना है, "कि आर्त, विषण्ण, शिथिल, भीत, घोर व्याघ्रादि में वर्तमान प्राणी (मनुष्य) 'नारायण' शब्द मात्र का संकीर्तन कर के दुःखविमुक्त होकर सुखी हो जाते हैं।"† किसी सन्त ने ठीक ही कहा है:—

कीर्तन-महिमा कही न जात।
अजामेल की सुनलो बात॥
यह रसना है मुख में चाम।
कृष्ण-कीर्तन बिन बेकाम॥

कर्ण का कहना है कि "मैं अन्य कुछ बोलता ही नहीं, (नान्यं वदामि)। अत्रि का उपदेश भी 'सदा गोविन्द-कीर्तनं' है। एक महात्मा की परमात्मा से प्रार्थना है कि, 'हे मुकुन्द! मुझे श्री-वल्लभ, वरद, दयापर, भक्त-प्रिय, भव-लुण्ठन-कोविद, नाथ, नाग-शयन, जगन्निवास नामों का पद-पद पर आलाप करनेवाला कर दे।"¶ वसिष्ठ का वचन है कि "जिसकी वाणी पर 'कृष्ण' यह मंगल नाम रहता है, उसके पातक उसी क्षण भस्म हो जाते हैं।"‡

---

† आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीताः घोरेषु व्याघ्रादिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य 'नारायण' शब्द मात्रं विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥

¶ श्रीवल्लभेति वरदेति दयापरेति भक्तप्रियेति भवलुण्ठनकोविदेति।
नाथेति नागशयनेति जगन्निवासेत्यालापिनं प्रतिपदं कुरु मां मुकुंद॥

‡ कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातककोटयः॥

लोमहर्षण का कहना है कि "मैं निर्मल नाम नारायण का उच्चारण करता हूँ।"[1] गर्गाचार्य का मत है कि 'नारायण' यह मन्त्र है और वाणी वशवर्तिनी है, तो भी लोग घोर नरक में पड़ते हैं, यह अद्-भुत है।"[2] अर्थात् मनुष्य 'नारायण' नाम का संकीर्तन करे तो नरक में कभी नहीं पड़ सकता। 'नारायण' नाम का संकीर्तन भी कठिन नहीं है क्योंकि वाणी अपने वश में है। आश्चर्य तो यह है कि लोग फिर भी नाम-कीर्तन नहीं करते और घोर नरक में गिरते जाते हैं। एक महात्मा का वचन है कि 'अमृत-वर्षिणी जिह्वा वह है जो पद-पद पर नारायण की स्तुति करती है। पराशर का वचन है कि " 'हरि'—इन दो अक्षरों का उच्चारण जिसने एक बार भी कर लिया वह मोक्ष-गमन के लिए मानों तैयार ही है।"[3] पौलस्त्य ने कहा है कि "हे रस का सार जाननेवाली मधुर-प्रिय जिह्वा, तू 'नारायण' नाम के पीयूष का निरन्तर पान कर।"[4] धन्वन्तरि तो सकल रोगों की एक मात्र औषधि 'अच्युतानन्द गोविन्द' को ही मानते हैं। वे कहते है कि "अमोघानन्दवाले गोविन्द नाम के उच्चारण की भेषज से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, यह मैं सत्य कहता हूं।"[5] शौनकादि अन्य महापुरुष भी कीर्तन का माहात्म्य वर्णन कर चुके हैं। जिस स्थान में भगवत्कीर्तन होता है वह स्थान अनेक तीर्थों का तीर्थ माना जाता है। इस विषय में सूतजी कहते

---

1 "वदामि नारायण नाम निर्मलं।"

2 नारायणेति मंत्रोस्ति वागस्ति वशवर्तिनी।
तथापि नरके घोरे पतंतीत्येतद्द्भुतम्॥

3 "सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥"

4 हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिव जिह्वे निरन्तरम्॥

5 अच्युतानन्द गोविन्द नामोच्चारण भेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

हैं—"जहाँ भगवान् की उदार कथा का प्रसंग है, वहीं गंगा है, वहीं यमुना है, वहीं वेणी है, वहीं गोदावरी है, वहीं सिंधु और सरस्वती हैं; और वहीं सब तीर्थ बसते हैं।"[6] भाषा में इसी आशय को एक कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—

"जग्य करत तप करत कष्ट करि। बहुत वर्ष तैं ह्वै प्रसन्न हरि॥
सो कीये कीर्तन लघु काल। रीझत थोरे माहिं दयाल॥"

भागवत एकादश स्कंध में भी यह लिखा है:—"हे राजन्! इस दोष-निधि कलियुग का एक बड़ा गुण है कि भगवान् के कीर्तन मात्र से ही बंध-मुक्त होकर पर-स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है।"† 'मुकुन्दमाला' में भी लिखा है—

श्रीमन्नामप्रोच्य नारायणाख्यं के न प्राप्ता वाञ्छितं पापिनोऽपि।
हा नः पूर्वं वाक्प्रवृत्ता न तस्मिंस्तेन प्राप्तं गर्भवासादिदुःखं।"

अर्थात् श्रीमन्नारायण नाम लेकर किस पापी ने 'वांछित' नहीं पाया? कष्ट की बात है कि उसमें अपनी वाणी को पहले प्रवृत्त नहीं किया। इसी से गर्भवासादि दुःख मिले।

(३) स्मरण से अभिप्राय भगवद्विषय का चिंतन करना, भगवद्गुणों का याद करना, भगवत्स्वरूप में मन लगाना एवं भगवच्चरित्रों का ध्यान करना है। ब्रह्मा का वचन है कि 'राग से विमुक्त, इस लोक और उस लोक को जाननेवाले जो मानव सतत सुर-गुरु नारायण का स्मरण करते हैं, मुक्तपाप वे चेतन उस ध्यान से माता के पयोधर-रस को पुनः पान नहीं करते।"‡ कर्ण

---

6 तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र यत्राऽच्युतोदारकथाप्रसंगः॥
"सा जिह्वाऽमृतवर्षिणी प्रतिपदं या स्तौति नारायणम्।"

† "कलेर्दोषनिधे राजनस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत्॥"

‡ "ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन हतकल्मषचेतनास्ते मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति॥"

कहते हैं कि "अन्यं न चिन्तयामि" अर्थात् भगवान् ही का चिंतन करता हूँ, दूसरे का नहीं। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है:—

"कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥

अर्थात् 'कृष्ण-कृष्ण', इस प्रकार जो मुझको नित्य प्रति स्मरण करता है, जल को भेदन कर निकले कमल की भाँति मैं उसका नरक से उद्धार कर देता हूँ।' इस विषय में विश्वामित्रजी कहते हैं—"मनुष्यों के मन में स्थित देव का जो नित्य ध्यान करता है उसको दानों से क्या, तीर्थों से क्या, तपों से क्या और यज्ञों से भी क्या ?† महर्षि अत्रि भी 'गोविन्देति सदा ध्यानं' का ही समर्थन करते हैं। श्री शुकदेवजी का उपदेश भी यही है कि "अच्युत कल्पवृक्ष हैं, अनंत कामधेनु हैं, गोविन्द चिन्तामणि हैं: एसे हरि-नाम का चिन्तन करना चाहिए।"‡ कश्यपजी ने पाप-संघात के उच्छेदन के लिए 'कृष्णानुस्मरण' का ही समर्थन किया है। वे कहते हैं:—

"कृष्णानुस्मरणादेव पाप संघातपंजरः।
शतधा भेदमाप्नोति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥

अर्थात् कृष्ण के अनुस्मरण मात्र से पाप-संघात-पंजर के सैंकड़ों टुकड़े होजाते है, जैसे वज्रपात से पर्वत के टुकड़े होजाते हैं। लोमहर्षण ने भी नारायण नामक अव्यय तत्त्व के स्मरण को मान्यता देते हुए कहा है—

'स्मरामि नारायणतत्त्वमयव्यम्'।

अंगिरा ऋषि ने बड़े सबल शब्दों में 'हरि-स्मरण' की महिमा निरूपित करते हुए कहा है –

---

† किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः।
यो नित्यं ध्यायते देवं नराणां मनसि स्थितम् ॥

‡ 'अच्युतः कल्पवृक्षोऽसावनन्तः कामधेनवः।
चिन्तामणिश्च गोविन्दो हरिनाम विचिन्तयेत् ॥

हरि हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ।।

अर्थात् दुष्ट चित्तों से भी किया हुआ हरि-स्मरण पापों को हरता है जैसे बिना इच्छा के भी स्पर्श की हुई अग्नि जलाती है।

वासुदेव के चिन्तन के अभाव को मार्कण्डेय ने बड़ी हानि, एवं जड़ता माना है। "यदि वासुदेव का चिन्तन मुहूर्त वा क्षण भर भी न किया तो वह सब से बड़ी हानि, सब से बड़ा छिद्र (गर्त, दोष) एवं सब से बड़ी अंध-जड़-मूढ़ता है।"‡

एक भाषा कवि ने हरि-स्मरण की महत्ता को अपनी चौपाइयों में इस प्रकार कहा है—

श्रवण कीर्तन करै जु कोय। ताको फल हरि सुमरिन होय ।।
हरि सुमरिन लाग्यौ जब हौंन। ताको हृदय कियो हरि भौंन ।।
अपनौ भवन बहुरि को त्यागै। अति उज्ज्वल राखत अनुरागै ।।

भागवत के ग्यारहवें स्कंध में भगवान् ने स्वयं कहा है—

"विषयों का ध्यान करता हुआ चित्त विषयासक्त होजाता है और मेरा स्मरण करता हुआ चित्त मुझ ही में आसक्त हो जाता है।"¶

'मुकुन्दमाला' का उपदेश इस क्षेत्र में कितना सुन्दर है:-

नाथे धातरि भोगिभोगशयने नारायणे माधवे,
देवे देवकिनन्दने सुरवरे चक्रायुधे शार्ङ्गिणि ।।
लीलाशेषजगत्प्रपञ्चजठरे विश्वेश्वरे श्रीधरे,
गोविन्दे कुरु चित्तवृत्तिमचलामन्यैस्तु किं वर्तनैः ।।"

अर्थात् 'नाथ में, कर्ता में, शेषशायी में, नारायण में, माधव में, देव में,

---

‡ "सा हानि स्तन्महच्छिद्रं सा चांधजडमूढता ।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत् ।।"

¶ "विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ।।"

देवकिनन्दन में, सुरवर में, चक्रायुध में धनुर्धारी में, समग्र लीला-जगत्प्रपंच है उदर में जिसके ऐसे विश्वेश्वर में, श्रीधर में, और गोविन्द में (तू) चित्तवृत्ति को स्थिर कर। अन्यों से क्या प्रयोजन ? अन्यत्र परमा वैष्णवी सिद्धिको ध्यान या स्मरण से मिलने वाली कहा गया है—

"ध्यायन्ति ये विष्णुमनन्तमच्युतं, हृत्पद्ममध्ये सततं व्यवस्थितं।
उपासकानां प्रभुमीश्वरेश्वरं ते यान्ति सिद्धिं परमां तु वैष्णवीम् ॥"

अर्थात् हृदयकमल के मध्य में निरन्तर निवास करने वाले, उपासकों के प्रभु, ईश्वरों के ईश्वर, अनन्त, अच्युत, विष्णु का जो लोग ध्यान करते हैं वे परमा वैष्णवी सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

वास्तव में बुद्धि वही है जो परमात्मा के ध्यान में समर्थ है। एक महात्मा ने ऐसी बुद्धि की ओर इस प्रकार इंगित किया है—

"सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवध्यायिनी ।"

("निर्मलचन्द्र और शंख के समान धवल बुद्धि वह है जो माधव का ध्यान करती है।"

४. पाद-सेवन—

इसका अभिप्राय है भगवच्चरणारविन्द का सेवन। इसकी महिमा अपार है। स्वामी यामुनाचार्य ने पाद-सेवन की महिमा इन शब्दों में लिखी है:—

"यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरःसु च भाति यस्मि
न्नस्मन्मनोरथपथः सकलस्समेति ॥
स्तोष्यामि नः कुलधनं कुलदैवतं तत् ।
पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ॥"

अर्थात्' 'भगवान् पुण्डरीकाक्ष के चरणारविन्द जो मेरे मस्तक पर और वेद के शिर पर प्रकाशमान हैं, जिनमें हमारे सब मनोरथमार्ग पहुँचते हैं, जो हमारे कुलधन और वंशपरंपरागत दैवत हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा।"

भगवच्चरणों की परम शरण्यता के विषय में स्वामी यामुनाचार्यजी लिखते है—

"न धर्मनिष्ठोस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिंचनो नान्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥"

अर्थात् "मैं न तो धर्मनिष्ठ ही हूँ और न आत्मज्ञानी ही। आपके चरणारविन्द में भक्तिमान् भी नहीं हूँ। मैं अकिंचन और अनन्य गति हूँ। हे शरण्य ! आपके चरणमूल की शरण में प्राप्त होता हूँ।'

आशय स्पष्ट है कि जो ज्ञान, भक्ति और योग से विहीन है, जो दीन और अशरण है, उसे आपके चरणों में शरण अवश्य मिलती है। किन्तु भगवच्चरणारविन्द की परिचर्या का सौभाग्य बड़ी असाधारण कक्षा में ही जीव को प्राप्त होता है। इस विषय में एक महात्मा की उक्ति है:—

अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभूः
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः ।
नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे–
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः ॥

"मै मर्यादारहित हूँ, क्षुद्र हूँ, चलमति हूँ, असूया उत्पन्न होने की भूमि हूँ, कृतघ्न हूँ, दुरभिमान हूँ, काम के वश में हूँ, वंचक (ठग) हूँ, निर्दय और पापिष्ठ हूँ, फिर इस अपार दुःख सागर से कैसे उत्तीर्ण होकर आपके चरणयुगल की परिचर्या करूँ ?

एक अन्य स्थान पर भगवच्चरणों की महिमा का निरूपण इस प्रकार किया गया है:–

१. निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तव पाद पंकजं ।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनंधयो न जातु मातुश्चरणो जिहासति ॥

२. तवामृतस्यंदिनि पाद-पंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥

३. त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत् कृतोऽञ्जलिः ।
तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥

४. उदीर्ण संसार दवाशु शुक्षणिं क्षणेन निर्वाप्य परांच निर्वृतिं ।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाम्बुजद्वयानुरागामृतसिन्धु सीकरः ।।

५. विलासविक्रान्त परावरालयं नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणं ।
धनं मदीयं तब पाद-पंकजं कदा नु साक्षात् करवाणि चक्षुषा ।।

६. कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पक ध्वजारविन्दांकुशवज्रलाञ्छनं ।
त्रिविक्रम त्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्द्धानमलं करिष्यति ।।

१. हे महेश, आशा न देने वाले आपका चरण कमल छोड़ने को कभी मेरा उत्साह नहीं होता है। स्तन्य पान करने वाले शिशु को यदि उसकी माता रोष करके फेंकदे तो भी वह माता के चरणों को कभी नहीं छोड़ता ।

२. जिसने अपनी आत्मा तेरे अमृत टपकाते हुए चरणारविन्दों में निवेशित करदी है, वह किसी दूसरी वस्तु की इच्छा कैसे करे ? पुष्परस से पूरित कमल पर बैठा हुआ भ्रमर इक्षुरक की ओर देखता भी नहीं है। दक्षिण में इक्षुरक नाग का एक छोटासा वृक्ष होता है । वह काँटे वाला होता है । यदि भ्रमर उस पर जाकर बैठे तो उसका स्वरूप भ्रष्ट होजाता है। इसी प्रकार भगवच्चरणारविन्द को छोड़ कर दूसरी ओर को लगे हुए जीव का स्वरूप भी भ्रष्ट होजाता है ।

३. तेरे चरणों को उद्देश्य करके जब कभी, जो कोई भी, किसी प्रकार से भी एक बार भी अंजलि बाँधले, तो वे चरणारविन्द उसी समय सब अमंगलों को दूर करके निःसन्देह मंगल कर देते हैं ।

४. तेरे युगल चरणारविन्दों के अनुराग रूपी अमृत-सागर की एक विन्दु भी संसार की उठी हुई दावाग्नि को क्षणमात्र में शान्त करके उत्कृष्ट सुख प्रदान कर देती है ।

५. ब्रह्मादिक और इन्द्रादिक के लोकों के विलास को परिमित करने वाले, प्रणाम करने वालों के दुःखों को एक क्षण में

मिटा देने वाले आपके चरण-कमल मेरे धन हैं। उनका दर्शन मैं नेत्रों से कब करूँगा ?

६. हे त्रिविक्रम*! तेरे युगल चरणारविन्द, जिनमें शंख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, कमल, अंकुश और वज्र के चिन्ह हैं, मेरे मस्तक को कब अलंकृत करेंगे ?

एक अन्य महात्मा भगवच्चरणों में निश्चल भक्ति माँगते हुए कहते हैं—

नास्था धर्मे, न वसु-निचये, नैव कामोपभोगे;
यद्यद्भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुह युगगता निश्चला भक्तिरस्तु ।।

अर्थात् मेरा प्रयोजन न धर्म से है, न धन एकत्रित करने से है, और न काम के उपभोग से है। हे भगवन्, पूर्वकर्मों के अनुसार जो कुछ होना है वह हो। हाँ, इतनी मात्र मेरी प्रार्थना है कि आपके युगल चरणारविन्दों में मेरी निश्चला भक्ति जन्मजन्मान्तर में भी बनी रहे।

अन्यत्र वे महात्मा चरण-भक्ति माँगने का सुन्दर कारण बताते हुए कहते हैं—

तृष्णा तोये मदनपवनोद्भूतमोहोर्मिमाले,
दारावर्ते तनयसहजग्राहसंघाकुले च ।
संसाराख्ये महति जलधौ मज्जतां नस्त्रिधामन्
पादाम्भोजे वरद भवतो भक्तिभावं प्रयच्छ ।।

अर्थात् हे भगवन्, हे वरद, संसार नाम वाले इस महासागर में, तृष्णा का जल है और मदन रूपी पवन से इसमें मोहरूपी लहरों

* त्रिविक्रम—तीन पद उठाने वाले भगवान् का नाम 'त्रिविक्रम' है। यहाँ तात्पर्य यह है कि 'त्रिविक्रम' को 'पद' उठाने का अभ्यास है और उनका विक्रम प्रसिद्ध हो चुका है। अतएव त्रिविक्रम ही मेरे शिर पर चरण रखकर शोभित कर सकते हैं।

की परम्परा उठी हुई है। इसमें दारा (स्त्री) रूपी भ्रमर हैं और यह संतति रूपी ग्राहों से व्याप्त है। इसमें डूबते हुए हमको अपने चरण-कमलों का भक्ति-भाव दीजिये।

एक अनुभवी कवि ने भी ऐसा ही लिखा है—

"कृतान्त (यमराज) की दूती जरा कर्णमूल के पास आकर कहती है कि लोगो सुनो—पर-स्त्री, पर-द्रव्य की वाञ्छा छोड़ो और रमानाथ (भगवान् विष्णु) के पादारविन्द की सेवा करो‡।"

इस सब कथन का आशय संक्षेप में यह है कि भगवच्चरणारविन्द की सेवा सर्वोत्कृष्ट है और इसके द्वारा असंख्य प्राणी संसार-सागर से उत्तीर्ण होगये हैं। भगवान् सर्वांगसम्पन्न हैं और सौन्दर्य तथा अन्य गुणों में कोई अंग भी न्यून नहीं है तथापि सर्वसाधारण जीवमात्र का सम्बन्ध भगवान् के चरण-कमलों ही से है।

५. अर्चन—

भगवदर्चन का माहात्म्य बहुत विलक्षण है, अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है। लिखा भी है कि "मन, वाणी और काया से उत्पन्न हुए ब्रह्महत्यादिक पाप तक शालिग्राम-शिला के अर्चन से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।¶"

अर्चन में घोर पापों के नाश करने की शक्ति है। इसका प्रतिपादन यमराज की इस उक्ति से हो जाता है:—

नरके पच्यमानस्तु यमेन परिभाषितः,
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः॥

---

‡ कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूलं।
समागत्य वक्तीति लोकाः शृणुध्वम्॥
परस्त्रीपरद्रव्यवाञ्छां त्यजध्वं।
भजध्वं रमानाथ पादारविन्दम्॥

¶ "ब्रह्महत्यादिकं पापं मनोवाक्काय संभवं।
शीघ्रं नश्यति तत्सर्वं शालिग्राम-शिलार्चनात्॥"

अर्थात् 'नरक में पड़े हुओं को यम ने कहा कि क्या क्लेश दूर करनेवाले केशव का तुमने अर्चन नहीं किया ?'

इससे यह स्पष्ट है कि केशव का अर्चन करनेवाले नरक में नहीं जाते। वास्तविकता भी यही है। 'न देवः केशवात्परः'—व्यासजी का यह वाक्य सत्य है। स्वयं शिवजी ने केशव-नाम की यथार्थ संगति इस प्रकार वर्णन की है:—

क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।
आवां तवाङ्के संभूते तस्मात् केशव नामवान् ॥

'क' नाम ब्रह्मा का है और सब देहधारियों का ईश मैं हूँ और हम दोनों आपके अंक में हुए, अतएव आप 'केशव' नामवाले हैं।

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मजी ने उत्तम धर्म का निर्णय इस प्रकार किया है—

"एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥"

अर्थात् 'मेरे विचार में सब धर्मों में अधिकतम धर्म यह है कि मनुष्य भक्तिपूर्वक स्तवोंसहित पुण्डरीकाक्ष भगवान् का सदा अर्चन करे।'

इस विषय में अन्यत्र 'अर्चावतार' तथा 'साकार स्वरूप' के प्रकरण में बहुत कुछ कहा जा चुका है। वह समग्र विवेचन यहाँ पर जोड़ा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि अर्चास्वरूप से जो सिद्धि मिल सकती है उसकी योग्यता तभी समझनी चाहिए जब जीव भगवदर्चन करे। यह न भूल जाना चाहिए कि भगवदर्चन के बिना अपने स्वरूपानुरूप व्यवहार में भी त्रुटि रहती है, क्योंकि जीव भगवद्दास है और दासत्व इसके व्यवहार में आना चाहिए। माला, गन्ध, वस्त्र, नैवेद्य आदि पहले भगवान् को अर्पित करके फिर उनको प्राप्त करने पर ही जीव के अन्तःकरण पर भगवद्दासत्व

यथार्थ रीति से खचित रह सकता है; अतएव 'अर्चना' में अर्पण की भावना से परिपुष्ट 'दासत्व' सिद्ध होता है ।

६. वन्दन—

वन्दन का अभिप्राय भगवान् को प्रणाम करना, उनके चरण-कमलों में शिर झुकाना है । 'कृष्ण-प्रणामी न पुनर्भवाय' (कृष्ण को प्रणाम करनेवाले का पुनर्जन्म नहीं होता) कह कर 'सुभद्र' ने वन्दन का माहात्म्य निरूपित किया है । शल्य ने 'वन्दन' की महिमा का गुणगान इन शब्दों में किया है—

"अतसी-पुष्प-संकाशं पीतवाससमच्युतं;
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ।।"

अर्थात् गोविन्द को नमस्कार करनेवाले निर्भय हो जाते हैं । उनको भय नहीं रहता, क्योंकि 'भय' एक भाव है जिसका लय प्रणामी के नमस्कार में हो जाता है। इसीसे 'भक्ति' की अनन्यता सिद्ध होती है । अनन्यता एक ही भाव की परिपूर्ण सिद्धि है । फिर अनन्यभक्ति में भय के लिए अवकाश कहाँ हो सकता है ? वन्दन भी अनन्यभाव से विमुक्त नहीं हो सकता । इसलिए वन्दन की बड़ी महिमा है । बड़े-बड़े महात्मा वन्दन के माहात्म्य को अपनी-अपनी अमर वाणी में कह गये हैं—

१. 'वन्दे विष्णुं सर्वलोकैकनाथम्'

२. 'वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्'

३. 'गोविन्दानन्त सर्वेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ।'

अश्वत्थामा का वचन है—

४. 'गोविन्द केशव जनार्दन वासुदेव विश्वेश विश्व मधुसूदन विश्वनाथ ।
श्री पद्मनाभ पुरुषोत्तम पुष्कराक्ष नारायणाच्युत नृसिंह नमो नमस्ते ।।'

धृतराष्ट्र कहते हैं—

५. "नमो नमः कारण वामनाय, नारायणायामितविक्रमाय ।
श्री शार्ङ्गचक्राब्जगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ।"

द्रौपदी कहती हैं—

६. "यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवाऽनन्त केशव,
कृष्ण विष्णो हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ।"

पिप्पलायन का कहना है—

७. "श्रीमन्नृसिंहविभवे गरुड़ध्वजाय,
तापत्रयोपशमनाय भवौषधाय;
कृष्णाय वृश्चिक जलाग्नि भुजङ्ग रोग
क्लेशव्ययाय हरये गुरवे नमस्ते ।।"

अरुधन्ती कहती हैं—

८. कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रपतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ।।

और यामुनाचार्य स्वामी का वचन है—

९. नमो नमो वाङ्मनसातिभूतये,
नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये ।
नमो नमोऽनन्त महाविभूतये,
नमो नमोऽनन्तदयैक सिन्धवे ।।"

ऊपर की अनेक उक्तियों में से नवीं उक्ति का अर्थ अधिक ध्यान देने योग्य है। इस श्लोक में भगवान् के चार स्वरूपों को नमस्कार किया गया है।

१. प्रथम वह स्वरूप है जो मन और वाणी की अतिभूमि है। अर्थात् प्रभु के उस स्वरूप को पूर्णतः ग्रहण करने की सामर्थ्य न मन की है, न वाणी की। प्रभु के ऐसे स्वरूप को नमस्कार हो।

२. दूसरा वह स्वरूप है जो मन और वाणी की एकमात्र भूमि है अर्थात् मन और वाणी को प्रभु के उस स्वरूप के अतिरिक्त कुछ मिलता ही नहीं है जिसका वह चिन्तन अथवा वर्णन करे। चित् और अचित् की, जो नित्य और पृथक् हैं, स्थिति भी स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु इनका सब व्यवहार इनमें

अन्तर्यामी के निवास से होता है। इनका नियामक और धारक वही अन्तर्यामी प्रभु है; अतएव अन्तर्यामीस्वरूप प्रधान रहने से मन-वाणी की जो कुछ एकमात्र भूमि है, वह प्रधानतः अन्तर्यामी प्रभु ही है। स्मरण करने की बात है कि दूसरा नमस्कार भगवान् के उस स्वरूप को किया है जो जीव का ईश्वर है और जीवेश्वर के सम्बन्ध में आधाराधेय-भाव तथा आत्मशरीर-भाव पहले ही निरूपित किया जा चुका है।

३. तीसरा वह स्वरूप है जो अनन्त और महाविभूति वाला है और जिसके ऐश्वर्य की कोई सीमा नहीं है।

४. चौथा वह स्वरूप है जो अनन्त दया का एकमात्र सागर है क्योंकि परमात्मा में ऐश्वर्यादि अनेक गुण रहते हुए भी जीवों का उद्धार तो उसके दयासागर होने से ही होता है।

इस प्रकार भक्ति के वन्दन-प्रकार का अमित माहात्म्य है। एक हिन्दी चौपाई में इस माहात्म्य का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"प्रभु-पद-कमलन जो सिर नावत।
ताहि श्याम आपुन अपनावत॥
वन्दन नित्य लाभ किन लूटैं,
वन्दन तैं बन्धन सब छूटैं॥"

७. दास्य—

यह भक्ति का वह स्वरूप है जिसमें जीव के स्वरूप की यथार्थता सिद्ध होती है। जीव को भगवद्दास होने पर भी सदा अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता, यद्यपि इस बोध का रहना अत्यावश्यक है। इसी भाव को लेकर कर्ण ने कहा है—

नान्यं वदामि न श्रृणोमि न चिन्तयामि,
नान्यं स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि।

भक्त्या त्वदीय चरणाम्बुजमादरेण
श्री श्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम् ॥

'जीव की यथार्थता उसकी भगवद्दासता में है', इस उक्ति पर प्रश्न हो सकता है कि 'क्या वैकुण्ठ को प्राप्त कर लेने पर भी भगवद्दासत्व बना रहता है ?' इसके उत्तर में यह कह देना ही पर्याप्त है कि भगवद्दासत्व इस जीव का परम सौभाग्य है। यदि ऐसा न होता तो 'दास्य' भाव का इतना माहात्म्य क्यों होता और इसकी गणना 'नवधा' भक्ति में क्यों होती ? "सब जीव अपने आप ही परमात्मा के दास हैं। वे चाहे बंधन-दशा में हों, चाहे मोक्ष-दशा में। इनका अन्यथा लक्षण नहीं हैं।"† यह बात समझने की भी है कि उत्कृष्ट दशा में अपने स्वरूप की उत्कृष्ट व्यवस्था मिटनी क्यों चाहिए ? एक महात्मा ने तो यहाँ तक कह दिया है—"आंपके दास्य सुख के एकमात्र संगियों के स्थानों में तो (भले ही) मेरा कीट-जन्म भी हो जाय, पर दूसरे स्थानों में मेरा जन्म ब्रह्मा रूप से भी न हो।"‡

इससे समझना चाहिए कि जिनको अपने में भगवद्दासत्व का बोध यथार्थ रीति से हो रहा है, उनका इतना बड़ा माहात्म्य है कि उनके संगसे कीट तक को भगवद्धाम मिल सकता है, और इतरस्थानों में संभव है कि ब्रह्मा भी संसार-चक्र की नीची कोटियों में पहुँच जावे। उक्त श्लोक में यह भी देखने की बात है कि 'दास्य' शब्द के साथ 'सुख' शब्द लगा हुआ है जो लौकिक 'दासत्व' में निहित दुःख का विपरीत है। जीव का भगवदासत्व बहुत बड़ों से बड़ों को भी दुर्लभ है। एक महात्मा ने प्रार्थना की है—

---

† दासभूता स्वतस्सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः ।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च ॥

‡ तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे ।
इतरावसथेषु मास्मभूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥

"धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं,
परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः;
विधिशिव सनकाद्यैः ध्यातुमत्यन्तदूरं,
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ।।"

अर्थात् 'हे परम पुरुष, श्रेष्ठ योगियों में अग्रगण्य, ब्रह्मा शिव सनकादिकों के ध्यान को भी अत्यन्त दूर तेरे दास्य भाव की जो मैं कामवृत्त इच्छा करता हूँ ऐसे अपवित्र, विनयरहित, निर्दय और निर्लज्ज मुझ को धिक्कार है ।'

ऊपर के श्लोक में महात्मा ने भगवान् के परिजन-भाव को इतना ऊँचा बताया है कि ऐसे उत्तम कक्षा के महानुभाव होने पर भी उन्होंने अपने आपको उसके योग्य नहीं समझा । इससे स्पष्ट है कि जीवों को भगवत्संबंध में दास्य-भाव की जितनी सत्प्रतीति होती रहे उतनी उत्तम है । इसीलिए महात्मा लोग अपने शरीर पर ऐसे चिन्ह धारण किये रहते हैं, जैसे मस्तक पर तिलक रूप में भगवच्चरण की आकृति आदि । वे अपने किसी भी अवयव को शेषत्व-भाव से बहिर्भूत नहीं देख सकते । इस विषय में एक महात्मा का वचन है कि—

"नदेहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत् किमपि तव शेषत्वविभवात् ।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
निनाशं तत् सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ।।"

अर्थात् "हे नाथ ! आपके शेषत्व-महोत्सव से बहिर्भूत, एक क्षण-मात्र भी, न मैं देह को सहन करता हूँ, न प्राणों को, न सुख को और न अशेष वाञ्छित पदार्थों को ही सहन करता हूँ । यदि ये आपके शेषत्व-विभव से बहिर्भूत हों तो हे मधु-मथन ! मेरी यह प्रार्थना है कि इनके सैकड़ों टुकड़े होकर इनका नाश होजाए ।"

यहाँ 'मधु-मथन' नाम का प्रयोग करके यह संकेत दिया है कि जिस प्रकार 'आपने मधु नामक राक्षस के सहज ही टुकड़े-टुकड़े

करदिये वैसे ही उक्त वस्तुओं के छिन्न-भिन्नीकरण में भी आपको परिश्रम न होगा ।

८. सख्य—

इसका अभिप्राय परमात्मा के साथ 'सखा-भाव' या 'मैत्री' रखने का है । जिस किसी को यह पद प्राप्त होता है वह बड़ी उच्चकक्षा के आनन्द को प्राप्त करता है । अर्जुन, सुदामा, श्रीदामा आदि व्रज-गोप, और गोविन्द स्वामी आदि इसी भाव के भक्त हो चुके हैं । उनका भाग्य अति सराहना करने योग्य है । वत्स-हरण के समय इस भाग्य की इस प्रकार प्रशंसा की गई है:—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥

अर्थात "जिन व्रजवासियों के सखा परमानन्द, सनातन, पूर्णब्रह्म हुए उनका अहोभाग्य है ।" एक भाषा का कवि इस भाव को व्यक्त करता हुआ कहता है—

ब्रह्मादिक जाकी पदरज ध्यावैं ।
शीश छुवन को सोउ न पावैं ।
जो प्रभु सख्य ते भक्त रिझाये ।
काँधे अपनें ग्वाल चढ़ाये ।
हारे आपुन जीते ग्वाल;
महिमा 'सख्य' तु भक्ति विशाल ॥

अजड के भेद में भी जीवात्मा और परमात्मा—ये दो ही हैं । दोनों ही ज्ञानानन्द स्वरूप हैं । बद्ध जीवों का ज्ञान तथा आनन्द संकुचित रहता है । इसका हेतु माया-पाश है । इसके कारण संसार-चक्र में पड़े हुए बद्ध जीव नित्यविभूति एवं नित्यानन्द से दूर माने जाते हैं, किन्तु नित्य जीव नित्य-विभूति में आनन्द से निवास करते हैं । उक्त माया-पाश से मुक्त होने के लिए भगवान् ने वेद-शास्त्रादि द्वारा संदेश दिया है और अपना पता सूचित करके मिलने के यत्न बताये हैं । परमात्मा में मनुष्यों का ऐसा भाव होना

कि 'तू हमारा अत्यन्त प्रिय मित्र है', बहुत उच्च श्रेणी की बात है। भाव की उच्चता इसमें है कि मनुष्य अपना हृदय अपने मित्र के समक्ष खोल कर रख देता है और विश्वासपूर्वक जानता है कि मेरे दोषों से मेरे मित्र को ग्लानि कभी नहीं होगी, अपितु मित्र मुझे सहायता करने की सतत चेष्टा करेगा। यही भाव सखारूप में भक्त का परमात्मा के प्रति बना रहता है। प्रेम की ताली दोनों हाथों से बजने वाली होने पर भी प्रेमी के साधने की वस्तु है। इसी भाव से उपासक और उसके उपास्य मित्र सर्वेश्वर के बीच प्रेम की अविरल गंगा बहती रहती है।

परमात्मा के प्रति सखाभाव होने पर भक्त अपने को परमात्मा के अति निकट मानता है और अपने जीवन की सब कहानियाँ अपने मित्र को सुनाने को तत्पर रहता है। यह बड़ी ऊँची बात है। इस भाव में उस (मित्र) के सामने निर्भय होकर पूर्ण विश्वास के साथ अपने अन्तः करण के अत्यन्त गुप्त भेद भी रक्खे जा सकते हैं।

९. आत्मनिवेदन–

भक्ति का यह सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। इस पर पहुँच जाने वाला भक्त अपने आपको श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द में समर्पण करदेता है। यह आत्मसमर्पण इतना सुगम है कि इसमें देश, काल और पात्र का भी नियम नहीं है। यहाँ पर मर्कट-न्याय की समाप्ति है और मार्जार-न्याय इसके आगे प्रारंभ होता है।

वानर-शिशु अपने बल से अपनी माता को पकड़े हुए उसके पेट से चिपका रहता है। उसकी माता जब एक शाखा से दूसरी पर कूदती है तो शिशु भी साथ ही चिपका हुआ चला जाता है; परन्तु इसमें माता को अच्छी तरह पकड़े रहने का पुरुषार्थ शिशु का होता है, माता का नहीं। माता की शक्ति से शिशु की शक्ति न्यून होने से यह संभव है कि माता के कूदते समय शिशु का हाथ छूट जाने से वह गिर पड़े। यह मर्कट-न्याय है। आत्मसमर्पण

करदिये वैसे ही उक्त वस्तुओं के छिन्न-भिन्नीकरण में भी आपको परिश्रम न होगा ।

८. सख्य—

इसका अभिप्राय परमात्मा के साथ 'सखा-भाव' या 'मैत्री' रखने का है । जिस किसी को यह पद प्राप्त होता है वह बड़ी उच्चकक्षा के आनन्द को प्राप्त करता है । अर्जुन, सुदामा, श्रीदामा आदि व्रज-गोप, और गोविन्द स्वामी आदि इसी भाव के भक्त हो चुके हैं । उनका भाग्य अति सराहना करने योग्य है । वत्स-हरण के समय इस भाग्य की इस प्रकार प्रशंसा की गई हैः—

> अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम् ।
> यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ।।

अर्थात "जिन व्रजवासियों के सखा परमानन्द, सनातन, पूर्णब्रह्म हुए उनका अहोभाग्य है ।" एक भाषा का कवि इस भाव को व्यक्त करता हुआ कहता है—

> ब्रह्मादिक जाकी पदरज ध्यावैं ।
> शीश छुवन को सोउ न पावैं ।
> जो प्रभु सख्य ते भक्त रिझाये ।
> काँधे अपने ग्वाल चढ़ाये ।
> हारे आपुन जीते ग्वाल;
> महिमा 'सख्य' तु भक्ति विशाल ।।

अजड के भेद में भी जीवात्मा और परमात्मा—ये दो ही हैं । दोनों ही ज्ञानानन्द स्वरूप हैं । बद्ध जीवों का ज्ञान तथा आनन्द संकुचित रहता है । इसका हेतु माया-पाश है । इसके कारण संसार-चक्र में पड़े हुए बद्ध जीव नित्यविभूति एवं नित्यानन्द से दूर माने जाते हैं, किन्तु नित्य जीव नित्य-विभूति में आनन्द से निवास करते हैं । उक्त माया-पाश से मुक्त होने के लिए भगवान् ने वेद-शास्त्रादि द्वारा संदेश दिया है और अपना पता सूचित करके मिलने के यत्न बताये हैं । परमात्मा में मनुष्यों का ऐसा भाव होना

कि 'तू हमारा अत्यन्त प्रिय मित्र है', बहुत उच्च श्रेणी की बात है। भाव की उच्चता इसमें है कि मनुष्य अपना हृदय अपने मित्र के समक्ष खोल कर रख देता है और विश्वासपूर्वक जानता है कि मेरे दोषों से मेरे मित्र को ग्लानि कभी नहीं होगी, अपितु मित्र मुझे सहायता करने की सतत चेष्टा करेगा। यही भाव सखारूप में भक्त का परमात्मा के प्रति बना रहता है। प्रेम की ताली दोनों हाथों से बजने वाली होने पर भी प्रेमी के साधने की वस्तु है। इसी भाव से उपासक और उसके उपास्य मित्र सर्वेश्वर के बीच प्रेम की अविरल गंगा बहती रहती है।

परमात्मा के प्रति सखाभाव होने पर भक्त अपने को परमात्मा के अति निकट मानता है और अपने जीवन की सब कहानियाँ अपने मित्र को सुनाने को तत्पर रहता है। यह बड़ी ऊँची बात है। इस भाव में उस (मित्र) के सामने निर्भय होकर पूर्ण विश्वास के साथ अपने अन्तः करण के अत्यन्त गुप्त भेद भी रक्खे जा सकते हैं।

९. आत्मनिवेदन–

भक्कित का यह सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। इस पर पहुँच जाने वाला भक्त अपने आपको श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द में समर्पण करदेता है। यह आत्मसमर्पण इतना सुगम है कि इसमें देश, काल और पात्र का भी नियम नहीं है। यहाँ पर मर्कट-न्याय की समाप्ति है और मार्जार-न्याय इसके आगे प्रारंभ होता है।

वानर-शिशु अपने बल से अपनी माता को पकड़े हुए उसके पेट से चिपका रहता है। उसकी माता जब एक शाखा से दूसरी पर कूदती है तो शिशु भी साथ ही चिपका हुआ चला जाता है; परन्तु इसमें माता को अच्छी तरह पकड़े रहने का पुरुषार्थ शिशु का होता है, माता का नहीं। माता की शक्ति से शिशु की शक्ति न्यून होने से यह संभव है कि माता के कूदते समय शिशु का हाथ छूट जाने से वह गिर पड़े। यह मर्कट-न्याय है। आत्मसमर्पण

मर्कट-न्याय से ऊँची वस्तु है। इसमें मार्जार-न्याय काम करता है, क्योंकि मार्जारी (बिल्ली) स्वयं अपने शिशु को मुख में पकड़ती है। शिशु उसको नहीं पकड़ता; अतएव शिशु गिर नहीं सकता।

कहने का आशय यह है कि आत्मनिवेदन से पूर्व 'ऐसा करो ऐसा मत करो' का भार जीव पर है और जीव की सामर्थ्य अल्प होने से उसका गिरजाना भी असंभव नहीं है, परन्तु आत्मनिवेदन के पीछे यह भार जीव पर नहीं रहता। भगवान् स्वयं सब कुछ करते हैं जिसमें कभी कोई त्रुटि नही हो सकती। इस आत्मनिवेदन का नाम ही 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' है जिसके स्वरूप का निरूपण आगे किया जायगा।

आत्मनिवेदन भक्ति का अन्तिम अंग है। यहाँ से आगे प्रपत्ति का आरंभ होता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि आत्मनिवेदन जीवों को करना पड़ता है और जहाँ तक इस जीव को कुछ करना पड़े वहाँ तक भक्ति-क्षेत्र समझना चाहिए। जब भक्त को कुछ न करना पड़े, भगवान् स्वयं उसका सब हित करने लगें वहाँ से प्रपत्ति का प्रारंभ समझना चाहिए। इस कारण आत्मनिवेदन शब्द को भक्ति के नवें अंग में रक्खा है। इस शब्द से आत्मनिवेदन करने तक की दशा सूचित होती है। इसके पश्चात् की दशा प्रपत्ति अथवा शरणागति कहलाती है। उस कक्षा के महात्माओं को 'प्रपन्न' तथा 'भागवत' कहते हैं।

स्मरण करने की बात है कि पीछे 'भगवत् पर' के दो भेद कहे जा चुके हैं—एक भक्त, दूसरा प्रपन्न। 'भक्त' का प्रकरण समाप्त हुआ अब 'प्रपन्न' का प्रकरण प्रारंभ होगा।

अध्याय ७

प्रपन्न वह है जिसने 'प्रपत्ति' अंगीकार की है अर्थात् सब धर्मों को छोड़ कर जो अकेले श्रीमन्नारायण की शरण में चला गया हो। उसी का नाम 'भागवत' है।

प्रपन्न और प्रपत्ति

भागवतों का निवास वैकुण्ठलोक में होता है। कहा भी है—

वैकुण्ठे तु परे लोके श्री श्रिया सार्द्धं जगत्पतिः।
आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तैर्भागवतैः सह॥

अर्थात् 'सबसे परे वैकुण्ठ लोक में लक्ष्मी जी सहित जो जगन्नाथ विराजते हैं वे ही विष्णु हैं। वे अचिन्त्यात्मा हैं। वे वहाँ भक्तों और भागवतों सहित विराजते है।' इससे स्पष्ट है कि वैकुण्ठ लोक में भगवान् के समीप भक्त और भागवत दोनों रहते हैं। यह भागवत कक्षा बहुत ऊँची है क्योंकि इसमें पहुँचने के उपरान्त जो कुछ करना है, भगवान् 'मार्जार-न्याय' से स्वयं कर देते हैं।

कुछ लोग यह भी पूछ बैठते हैं कि 'प्राणान्तकाल में भगवत्स्मरण करने पर सद्गति कही जाती है। क्या यह काम 'प्रपन्न' को नहीं करना पड़ेगा?' यहाँ पूछने वालों को यह न भूल जाना चाहिए कि भगवान् में 'आश्रित-वत्सलत्व' है। आश्रित की रक्षा करने में विचित्रता भी क्या है? एक महात्मा ने कहा है—

'नावेक्ष्यसे यदि ततो भुवनान्यमूनि
नालम्प्रभो भवितुमेव कुतः प्रवृत्तिः।
एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः
स्वामिन्नचित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम्॥'

अर्थात् 'हे स्वामिन्! यदि आप दृक्पात न करें तो ये भुवन होने में ही समर्थ न होंगे, और जब वे हो ही नहीं सकते तो उत्पत्ति के अनन्तर होने वाली प्रवृत्ति ही कैसे होगी? इस प्रकार सब जन्तुओं के सहज सुहृद् आप में, हे स्वामिन्! आश्रित

वत्सलत्व का होना आश्चर्य की बात नहीं है।' इसका आशय यह है कि आप निर्हेतुक कृपा से सब जीवों की रक्षा करते हैं, फिर यदि आप अपने आश्रितों की रक्षा करें तो इसमें विचित्रता की क्या बात है ? वास्तव में भगवदाश्रित 'प्रपन्न' को ही कहा जा सकता है और 'आश्रित' के लिए तो भगवान् सब कुछ करते हैं; अतएव सद्गति के लिए प्राणान्त-काल में भगवत्स्मरण की शर्त 'प्रपन्न' के साथ तो अलग रही, भगवान् ने अपने भक्त के साथ ही नहीं रखी। उन्होंने स्पष्ट आज्ञा की है—

"ऐसी दशा में जब कि मन ठहरा हुआ हो, शरीर आरोग्य हो, धातुओं की साम्यावस्था हो, जो मनुष्य मुझ विश्वरूप का स्मरण करता रहता है, अपने उस भक्त का, चाहे वह काष्ठ-पाषाणवत् भी हो, उसके मृत्यु काल में, मैं स्मरण कर लेता हूँ और परम गति को ले जाता हूँ।" † इससे स्पष्ट है कि सद्गति के लिए मृत्यु-काल में स्मरण करने का प्रतिबन्ध जब भक्त के लिए भी नहीं है तो 'प्रपन्न' के लिए कैसे हो सकता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि निश्चिन्त होने के लिए प्रपत्ति से बढ़कर कोई उपाय ही नहीं है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥"

अर्थात् "सब धर्मों का परित्याग करके मुझ अकेले की शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूँगा। चिन्ता मत करो।" इससे स्पष्ट है कि प्रपत्ति अंगीकार करने के उपरान्त जीव को कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रपत्ति होनी चाहिए एकमात्र भगवान् की, क्योंकि अनन्यार्हत्व

---

† **"स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे, सति यो नरः धातुसाम्ये स्थिते, स्मरतां विश्वरूपं च मामजं, ततस्तं म्रियमाणन्तु काष्ठ-पाषाण-सन्निभं, अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥"**

उन्हीं के साथ है। स्वामित्व वास्तव में उन्हीं का है और मोक्ष देने की सामर्थ्य उनके अतिरिक्त किसी में नहीं है।

उपर्युक्त गीता-श्लोक में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद पर आशंका उठ सकती है। अनेक मनुष्य यह कह सकते हैं कि भगवान् ने जीवों को अपनी शरण में आने की आज्ञा दी वह तो ठीक है, किन्तु 'पहले सब धर्मों को छोड़ने की बात कह दी' इसका औचित्य समझ में नहीं आता। उनकी शंका के समाधान के लिए यह कहना उचित ही है कि धर्म चाहे कितनी ही बड़ी वस्तु हो, भगवत्सन्निधि से सदा लघुतर है। उसको भी इसीलिए अंगीकार किया जाता है कि उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति सरल बने; किन्तु शरणागति में पहुँचने पर जीव को धर्म का क्या करना है? छत पर चढ़ने को सीढ़ी चाहिए, किन्तु छत पर पहुँच जाने पर सीढ़ियों की आवश्यकता ही क्या रहती है? बड़ी वस्तु हाथ लगने पर छोटी में मन लगाये रखने से बड़ी वस्तु का अनादर होता है और 'प्रपत्ति' भी ऐसी ही बड़ी चीज़ है कि उससे बड़ा और कुछ नहीं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन तीनों के आगे 'प्रपत्ति-योग' है। उदाहरण के लिए दशरथ और वसुदेव को देखिये। दशरथ ने धर्म और भगवान में से धर्म का पालन किया और राम (भगवान्) को वनवास दे दिया। परिणाम यह हुआ कि उनको वैकुण्ठ न मिल सका। इसके विपरीत वसुदेव ने धर्म का परित्याग करके सुयत्नपूर्वक भगवान् को मथुरा से गोकुल पहुँचाया। इससे उनको वैकुण्ठ प्राप्त हुआ। इससे सिद्ध है कि भगवत्प्राप्ति की कोटि से धर्म की कोटि (पद) नीची है। जब मनुष्य गंगा में गोता लगाए तो उस समय वह हड्डी को मुट्ठी में क्यों रखे। गोता लगाने से पूर्व ही उसे दूर फैंक दे। सारांश यह है कि भगवान् के लिए धर्म का परित्याग भी किया जा सकता है।

यहाँ एक और प्रश्न हो सकता है कि 'भगवान् 'प्रपन्न' का इतना भार अपने ऊपर क्यों ले लेते हैं?' उत्तर स्पष्ट है कि यदि वे

इतना भार अपने ऊपर न लें तो जीवों का उद्धार कैसे हो? इस सारे बेड़े के खिवैया तो वे ही अकेले हैं। मनुष्य को ही देखो कि वह जिस वस्तु को अपनी समझ लेता है उसकी सँभाल करता है। पशु तक अपने पर निर्भर बच्चे की रक्षा करता है। जन्म के समय गो-वत्स के शरीर पर बहुत-सा मल लिपटा रहता है। वह खड़ा तक नहीं हो सकता, किन्तु गाय वत्स के मल को चाटकर मलरहित कर देती है और वह खड़ा होने लगता है। इसी प्रकार आत्मसमर्पण के अनन्तर जब जीव यह समझ लेता है कि भगवान् धनी हैं और मैं उनका धन हूँ, धन की रक्षा धनी करता है, स्वयं धन अपनी रक्षा नहीं करता और जब वह कबीर के शब्दों में अपने कर्मादि को भगवान् को समर्पित कर देता है—

मेरा मुझ को कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागत है मेरा।।

तो भगवान् इस जीव को सब पापों से मुक्त करके निज धाम प्रदान कर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान् शरण में आए हुए के रक्षक हैं। नीचे लिखे श्लोक से इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा गया है—

"भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां सुतदुहितकलत्रत्राणभारार्दितानां
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां भवतु शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्।।"

अर्थात् जो भवसागर में पड़े हुए हैं, द्वन्द्वों की घात से आहत हैं, पुत्र, पुत्री और स्त्री की रक्षा के भार से दबे हुए हैं, भयंकर विषय-जल में डूबते हुए हैं, और नौका रहित हैं, ऐसे लोगों की एक-मात्र शरण विष्णु रूपी जहाज हैं।

शरीर-आत्म-भाव का साक्षात्कार भी इसी प्रपत्ति की दशा में होता है क्योंकि शरीर पर लगी हुई किसी निकृष्ट वस्तु को दूर करने की चिन्ता शरीर नहीं करता, शरीरी जीव करता है। इसी प्रकार जीव को जब (उक्त दशा में) शरीर-शरीरी-सम्बन्ध का

साक्षात्कार होता है तो ईश्वर रूपी शरीरी अपने जीव-रूपी शरीर की निकृष्टता दूर करने की चेष्टा करता है। शरीर-शरीरी-भाव के अभाव में अपने आप चेष्टा करते हुए जीव की, ईश्वर-शरीरी के प्रति, शरीरता के भाव की यथार्थता सिद्ध नहीं होती।

जो भगवान् का होकर रहता है, जो उनकी शरण में आ गया है, वह माया के बंधन से छूट जाता है क्योंकि माया भी तो और किसी की नहीं, भगवान् ही की है। अपने शरणागत से भगवान् शीघ्र ही अपनी माया को दूर कर देते हैं। इसी का नाम मोक्ष है। भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है—

"दैवी हि सा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ॥"

अर्थात् "अनादिकाल से चली आनेवाली, तीनों गुणवाली, यह मेरी माया दुस्तर है। जो लोग एकमात्र मेरी शरण में आते हैं, वे ही इस माया से उत्तीर्ण होते हैं।"

यों तो मोक्ष के अनेक छोटे-छोटे उपाय कहे जा सकते हैं, किन्तु उनसे यह न समझ लेना चाहिए कि वे प्रपत्ति की समता के हैं।

प्रपत्ति और अन्य उपाय

कई छोटी-छोटी बातों को भी मोक्ष का साधन कहा जा सकता है, किन्तु उनका प्रयोजन इतना ही मानना चाहिए कि वह छोटी बात किसी दूसरी बड़ी बात तक पहुँचा दे और वह बड़ी बात किसी अग्रिम उन्नति की आधारशिला बन जावे। इस प्रकार छोटी बातों को उपाय कहना भी अयुक्त नहीं है, जैसे किसी बड़े साक्षर पंडित के विषय में यह कहना भी अयुक्त नहीं है कि उन्होंने इतना बड़ा पांडित्य वर्णमाला की सहायता से प्राप्त किया है। विचारने की बात तो यह है कि वर्णमाला की शिक्षा तो प्रारंभ में ही हुआ करती है; किन्तु पश्चात् वर्णमाला के ज्ञान से कुछ ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है। फिर उससे और ऊँचा ज्ञान मिलता है। 'पंडित' पद बहुत ऊँचा पद है,

वह तो व्यक्ति को पांडित्य से प्राप्त हुआ है। यह कहना अयुक्त नहीं कि वर्णमाला 'पंडित-पद' का साधन रही है, किन्तु वर्णमाला और पांडित्य में कोई समता नही है। इसी प्रकार मोक्ष के अन्य छोटे उपायों को प्रपत्ति के समकक्ष कह देना उचित नहीं है। प्रपत्ति की महिमा अकथनीय है।

प्रपत्ति की सुगमता

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रपत्ति में देश, काल और पात्र का नियम नहीं है। ज्ञान उसकी समता का नहीं है। ज्ञान का प्रयोजन केवल वाक्यार्थ ज्ञान से सिद्ध नहीं होता, वरन् जो-जो बातें स्पष्ट बोध के योग्य हैं उनका यथार्थ स्वरूप अन्तःकरण पर इस प्रकार खचित हो जाना चाहिए कि उसको 'दर्शन-समानाकार' कहा जा सके और यह तभी होता है जब ज्ञान की स्फूर्ति निरन्तर एवं अविरल हो—एक क्षण होकर दूसरे क्षण बन्द न हो जावे। इसी को 'ध्यानाकारता' कहते हैं और तभी 'दर्शन-समानाकारता' का पद मिलता है।

प्रपत्ति भक्ति से भी सुगम है। 'परमेश्वर में परानुरक्ति' को ही भक्ति कहते हैं। उसमें उस समय अपना स्वरूप नहीं होता, जबकि वह एक क्षण होकर दूसरे क्षण न रहे। 'परमेश्वर में परानुरक्ति' अनवच्छिन्न तैलधारावत् बनी रहनी चाहिए। प्रपत्ति में यह बात नहीं है क्योंकि प्रपत्ति एक बार होती है और अनन्त-काल तक उसका सौभाग्य जीव को रहता है क्योंकि देहावसान पर जो मोक्ष होता है वह सदा के लिए माया-बन्धन से छूटना है। फिर आवागमन का काम नहीं है। प्रपत्ति की यह सुगमता विभीषण की शरणागति के समय कहे हुए राम के इन वाक्यों से प्रमाणित होती है।

> "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
> अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।।—वाल्मीकि रामायण

अर्थात् "मैं आपका हूँ, इस प्रकार से एक बार भी याचना करने वाले प्रपन्न को मैं सब भूतों से अभय दे देता हूँ। यह मेरा नियम है।") पुरुषोत्तम के इस वाक्य की प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जो वस्तु आज आपकी हो चुकी है, वह चाहे कितने ही काल तक आपके अधीन रहे आपकी ही है। उसको प्रतिदिन आपकी वस्तु नहीं बनना पड़ेगा। वह तो एक दिन आपकी हो चुकी। उदाहरण के लिए एक वस्त्र को लीजिए जिसे आपने कल बाजार से खरीदा है। वह कल से पहले आपका न था, किन्तु कल से आपका होगया—दूकानदार का स्वत्व उठकर उस पर आपका स्वत्व होगया। वह वस्त्र जब तक रहेगा, आपका ही है। यह आवश्यक नहीं है कि दूकानदार का स्वत्व उससे प्रतिदिन उठा करे और वह प्रतिदिन आपका बना करे। वह तो एक दिन आपका बन चुका सो बन चुका और जब से आपने उसको अपना मान लिया तभी से उसकी रक्षा का भार आप पर ही है। ईश्वर का ज्ञान अत्रुटिपूर्ण होने से उसके द्वारा आपकी रक्षा में भी कोई त्रुटि नहीं हो सकती।

यहाँ एक बात और भी समझने की है कि जीव ने सच्चे भाव से यदि यह याचना भगवान् से की है कि 'मैं आपका' हूँ तो वास्तव में उसने भगवान् को दे क्या दिया ? इस याचना को करने से पूर्व भी यह जीव भगवान् ही का था। फिर भगवान् को ऐसी क्या नूतन एवं अलभ्य वस्तु मिल जाती है जिससे इतनी याचना करने मात्र से याचक को सब भूतों से अभय दे देते हैं ? कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तो भगवान् की दयालुता और आश्रित-वत्सलता है कि वे जीव में रहने वाले नित्य† भगवद्दासत्व के अनुकूल वृत्ति होने मात्र से प्रसन्न हो जाते हैं। भला भगवान् के लिए क्या अलभ्य और क्या नूतन है ? !

---

† भगवद्दासत्व प्रत्येक जीव में रहता है, किन्तु सब की वृत्ति उसके अनुकूल नहीं होती। प्रपत्ति के पथ में वृत्ति उसके अनुकूल हो जाती है।

शरणागति में ये छै बातें होनी चाहियेः—१. अनुकूलता का संकल्प, २. प्रतिकूलता का वर्जन, ३. 'रक्षा करेंगे' यह विश्वास, ४. गोप्तृत्व-वरण, ५. आत्म निक्षेप, और ६. कार्पण्य (दीनता)। १. अनुकूलता के संकल्प का तात्पर्य है भगवान् के अनुकूल रहने का दृढ़ व्रत कर लेना, २. प्रतिकूलता के वर्जन में जीव भगवद्विषयक प्रतिकूलता को कभी निकट भी नहीं फटकने देता, ३. 'रक्षा करेंगे', यह विश्वास जीव के लिए बड़ा आवश्यक है; जब तक यह विश्वास नहीं जमता शरणागति-सिद्धि नहीं होती, ४. गोप्तृत्व-वरण का अभिप्राय है भगवान् ही को एकमात्र रक्षक समझ कर केवल उन्हीं से रक्षा चाहना, ५. आत्म निक्षेप द्वारा जीव अपने को भगवच्चरणारविन्दों में पड़ा हुआ समझता है, ६. कार्पण्य—इस भाव को ग्रहण कर जीव अपने को दीन और अकिंचन जानता है।

शरणागति का स्वरूप

जब इन भावों की यथार्थता जीव को अपने स्वरूप में दीखने लगे तो समझना चाहिये कि 'भगवच्छरणागति' का स्वरूप बन गया। आगे यह जीव नीची गति को प्राप्त नहीं होगा। वह मोक्ष का अधिकारी होगया। इस कक्षा में पहुँचे हुए महात्माओं की यथार्थ रीति से प्रशंसा करना सामर्थ्य से बाहर की बात है। कहा भी है—

"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परं।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥"

अर्थात् हे देवि! सब आराधनों से विष्णु का आराधन श्रेष्ठ है, उससे भी भागवतों का समर्चन श्रेष्ठ है। इस श्लोक में भगवत्सेवा से भी उत्कृष्ट भागवत-सेवा कही गई है। इसी भाव को एक भाषा के कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"केवल मेरे सो नहिं मेरे। मेरे जो भोजन के चेरे॥"

---

‡ आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्व-वरणं तथा;
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

भागवत धर्म की महिमा सब से अधिक है और श्री रघुनन्दन महाराज के चौथे भाई शत्रुघ्नजी इस भागवत धर्म की मूर्ति थे।

भागवत धर्म की महिमा

जिस प्रकार भागवत् कैंकर्य बहुत बड़ी वस्तु है वैसे ही भागवत अपचार से बढ़कर कोई पातक नहीं है। भगवान् अपने अपचार को तो क्षमा भी कर देते हैं; किन्तु वे भागवत अपचार को क्षमा नहीं करते; किन्तु यह प्रपत्ति जो इतनी सुगम कही गई है, कोई खेल नहीं है। इसका भी स्वरूपानुरूप व्यवहार चाहिए।

प्रपन्न के दो भेद हैं (१) एकान्ति (२) परम एकान्ति। भगवत्-कैंकर्य और भागवत-गुणानुभव का सौभाग्य इन दोनों को

प्रपन्न के भेद

मिला होता है, परन्तु इस सौभाग्य के रहते हुए जो इसमें अपनी उत्कृष्टता मानी जाती है ऐसे भाव को 'एकान्ति' कहते हैं और जो केवल भगवत्-मुखोल्लासमात्र से ही उत्साह का भाव बन जाता है उसे 'परम एकान्ति' कहते हैं। इन दोनों में 'परम एकान्ति' की कक्षा ऊँची है।

'परम एकान्ति' के दो भेद हैः-(१)दृप्त, और (२) आर्त। इन दोनों में विश्लेषानुसहिष्णुता का थोड़ा-सा अन्तर है। भगवान् का वियोग इन दोनों ही को असह्य होता है। किन्तु एक तो कुछ सह भी लेता है, पर दूसरा बिल्कुल नहीं सह सकता।

परिशिष्ट

'आचार्य' शब्द की यथार्थ व्याख्या कठिन है, किन्तु साधारणतया आचार्य 'गुरु' को कहते हैं। अज्ञान-तिमिरान्ध पुरुष की आँखों को ज्ञानांजन-शलाका से खोलने वाले व्यक्ति को गुरु कहते हैं। नीचे के श्लोक में गुरु को नमस्कार करते हुए व्यक्ति ने गुरु के इसी रूप को व्यक्त किया है—

१. आचार्य का स्वरूप

"अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥"

इस अज्ञान का दूर होना कुछ छोटी बात नहीं है। फिर जिसके द्वारा अज्ञान दूर हो उसकी महिमा तो बहुत बड़ी होनी चाहिए। गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए एक कवि ने लिखा है—

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति ।
अवगमयति कृत्याऽकृत्यभेदे गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित् ॥

इसका अर्थ यह है कि 'संसार-समुद्र में ऐसे गुरु को छोड़ कर कोई नवका नहीं है, जो कुबोध को दूर करे, शास्त्र के अर्थ का बोध करावे, पुण्य और पाप की अच्छी-बुरी दोनों गतियाँ बतादे और जो करणीय एवं अकरणीय के भेद को समझा दे।'

वह गुरु ऐसा ही होना चाहिए नहीं तो काम नहीं चल सकता। गुरु के रूप की विशद व्याख्या इस श्लोक में मिलती है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं ।
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्या समेतं ।

दम्भासूयाविमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं ।
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ।।

अर्थात् गुरु वह है, जो सत्सम्प्रदाय में सिद्ध हो, जिसकी बुद्धि स्थिर हो, जो पापकर्मों से संबंध न रखे, जो श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सत्वस्थ और सत्य बोलनेवाला हो, जो समयनियत रीति और साधु-वृत्ति से युक्त हो, जो छल और असूया से रहित हो, जिसने विषयों को जीत रखा हो, जो दीर्घ-बन्धु हो, दयालु हो और जो पतन का निवारक एवं अपने तथा दूसरे के हित की चेष्टा में परायण हो। वास्तव में ऐसे गुरु को गुरु रूप में स्वयं भगवान् ही समझना चाहिए। इसी भाव को लेकर एक अन्य श्लोक में कहा गया है—

साक्षान्नारायणो देवः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम् ।
मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्यात् शास्त्रपाणिना ।।

अर्थात् 'साक्षात् नारायण करुणापूर्वक मर्त्यमय शरीर बनाकर (गुरु-रूप में) शास्त्रपाणी होकर डूबते हुए लोगों का उद्धार करते है।' भगवान् के हाथ में शस्त्र रहने से वे शस्त्रपाणी कहलाते हैं और जब वे स्वयं मनुष्य-शरीर में गुरु-रूप धारण करते हैं तो हाथ में शास्त्र रहने से उन्हें 'शास्त्रपाणी' कहते हैं। किन्तु 'गुरु कीजे जानकर, पानी पीजे छान कर', यह उक्ति भी बड़ा महत्त्व रखती है। बिना विचारे किसी भी व्यक्ति को गुरु बना लेने से उद्धार नहीं हो सकता; अतएव यह उक्ति सत्य ही है—

"भिन्ननावाश्रित स्तब्धो यथा पारं न गच्छति,
ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात् ।।"

अर्थात् "टूटी नाव में बैठा हुआ स्तब्ध व्यक्ति जैसे पार नहीं पहुँचता, वैसे ही ज्ञान-हीन गुरु को पाकर मनुष्य मोक्ष कैसे पा सकता है ?"

शिष्य आस्तिक, धर्मशील, सत्स्वभाव, वैष्णव, पवित्र, गंभीर, चतुर और धीर हो। कहा भी गया है—

"आस्तिको धर्मशीलश्च शीलवान् वैष्णवश्शुचिः ।
२. शिष्य का गंभीरश्चतुरो धीरः शिष्य इत्यभिधीयते ॥"
स्वरूप

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रयोजन से वह शिष्य होता है, वह इतनी बातों के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। एक ही बात को लेकर विचार किया जा सकता है कि जिसकी बुद्धि ग्रहण करने वाली नहीं है (जो धीर नहीं है) वह शिष्य बन कर क्या लाभ उठा सकता है ?

आचार्यों ने शिष्यों के स्वभाव को समझाने के लिए तीन श्रेणियों का निरूपण किया है—(१) महिष, (२) अश्व और (३) वृषभ। निकृष्ट श्रेणी के शिष्य को 'महिष' की उपमा दी जाती है। महिष (भैंसा) पोखर में जल पीते समय किनारे पर खड़ा रहकर नहीं पीता। वह भीतर प्रवेश करके पैरों से कीच को ऐसा उठाता है कि स्वच्छ जल गँदला हो जाता है और उसी को (अस्वच्छ जल को) पीता है। इसी प्रकार निकृष्ट श्रेणी का शिष्य भी गुरु के स्वच्छ उपदेशों को ग्रहण नहीं करता है, वरन् कुतर्कों से बात बिगाड़ देता है। इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि नम्र भाव और स्वच्छ अन्तःकरण से शंका करने का निषेध है। ऐसा पूछना तो उत्तम है। निषिद्ध तो वे कुतर्क हैं जो हानिकारक हैं जिनका उद्भव न तो सज्जनों के मन ही में होता है और न वे उन्हें वाणी से ही व्यक्त करते हैं।

मध्यम श्रेणी के शिष्य को अश्व की उपमा दी जाती है। घोड़ा अच्छा पानी पीता है और अच्छी घास खाता है, किन्तु अन्य घोड़े को अच्छा खाते-पीते देख कर असूया से ऐसा हींसता है कि उसका सब अच्छा खाया-पिया भी निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार बीच की श्रेणी का शिष्य भी गुरु के अच्छे उपदेशों को ग्रहण तो अवश्य करता है, किन्तु दूसरों के प्रति असूया करता है जिससे उसका प्राप्त उपदेश भी निष्फल हो जाता है।

उत्तम श्रेणी के शिष्य को वृषभ की उपमा दी जाती है। बैल शान्तिपूर्वक घास चरकर और जल पीकर एकान्त छाया-स्थली में जा बैठता है और शान्ति से जुगाली करता है। इसी प्रकार उत्तम श्रेणी का शिष्य भी गुरु के सदुपदेशों को ग्रहण करके एकान्त में उन पर विचार करता है और बिना किसी उद्वेग के शान्तिपूर्वक अभ्यास करके पूर्ण लाभ उठाता है।

आचारी वह है जो शास्त्र के अभिप्राय को समझ कर दूसरों को उस आचार पर स्थापित कर सके और स्वयं तदनुरूप ही आचरण करे। इसमें सन्देह नहीं कि आचारी का पद भी बहुत ऊँचा है। कल्याण चाहने वाले के लिए ऐसे आचारी की बड़ी आवश्यकता है। आचार्य और आचारी में कोई अन्तर नहीं है। जो लोग आचार्य की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते हैं उनके बेड़े का पार होना कठिन है। इसमें भी सन्देह नहीं कि भगवान् इस जीव की वृत्ति अपने चरणों में आकृष्ट करने में स्वयं समर्थ हैं, किन्तु नियम यही है कि बीच में आचार्य का पुरस्कार हो और इस नियम के निर्वाह के लिए भगवान् स्वयं इस जीव पर आचार्य प्राप्ति की कृपा करते हैं और वे आचार्य श्रीमन्नारायण के चरण-कमल में 'प्रपत्ति' करा देते हैं।

३. आचारी

इस प्रपत्ति को कोई दूसरी उपाय-वस्तु न समझ लेना चाहिए। अन्य उपायों से शून्य होकर, अपने को अनन्यगति मान कर केवल भगवच्चरणारविन्दों पर डाल देना ही प्रपत्ति का स्वरूप है। जब यह भाव बन जाता है कि भगवान् के सिवा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, जो कुछ है भगवान् ही हैं, तो भगवत्कृपा के मुख्य उपाय भी भगवान् ही ठहरते हैं, परन्तु 'प्रपन्न' के लिए यह आवश्यक है कि वह 'अनन्य शेषत्व', 'अनन्य साधनत्व', और अनन्य भोग्यत्व—इस प्रकार—त्रय से सम्पन्न हो।

'अनन्यशेषत्व' में यह भाव बन जाता है कि मैं केवल भगवान् ही का दास हूँ। भगवन्मुखोल्लास को छोड़ कर मेरे 'कैङ्कर्य' का और कुछ प्रयोजन नहीं है। 'अनन्यसाधनत्व' वह भाव है जिसमें भगवत्प्राप्ति का उपाय भी भगवान् ही ठहरते हैं।¶ 'अनन्यभोग्यत्व' वह भाव है जिसमें व्यक्ति की ऐसी निष्ठा हो जाती है कि मैं केवल श्रीमन्नारायण का भोग्य हूँ। उसके अतिरिक्त मेरा और कोई भोक्ता नहीं है।

इनका व्यवहार सदैव निरन्तर रूप से भगवान् के अत्यन्त अनुकूल रह कर जीवों पर भगवत्कृपा करवाते रहना है। ये भगवान् को इतनी प्रिय हैं कि प्रभु ने इनका निवास-स्थान अपनी भुजाओं के मध्य में ही बना रक्खा है। इनसे जिस प्रकार जीवों को बड़ा सहारा मिलता है वैसे ही भगवान् को भी बड़ी प्रसन्नता रहती है। समस्त जगत् इनके कटाक्ष के आश्रित है और गुण, रूप तथा विलास-चेष्टाओं से उसी प्रकार युक्त रहती हैं जिस प्रकार भगवान् अति प्रसन्न रहें। जिस प्रकार भगवान् अपनी निरवधिक महिमा का यह अनुमान नहीं कर सकते कि उसकी सीमा कहाँ तक है, उसी प्रकार श्री लक्ष्मीजी भी, जो उनकी परमप्रिया और परमानुकूला हैं, उनकी महिमा का ऐसा अनुमान नहीं कर सकतीं।

४. श्रीलक्ष्मीजी

श्री लक्ष्मीजी भगवत्सेवा में तत्पर रह कर जीवों के कल्याण की बातें सदा भगवान् को सुनाती रहती हैं क्योंकि वे जीव जो स्वयं इनकी सेवा में तत्पर रहते हैं, इनके आश्रय में आकर, अपनी व्यथा को इन्हें सुनाते रहते हैं। ये जीवों के दोषों को असत्प्राय करके उनके गुणों का विस्तार करती हैं। इसलिए इनकी विख्याति 'श्री' नाम से है। जिस प्रकार भगवान् जीवों के प्रति 'हितपर' हैं, उसी

¶ तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर-चन्दन।
सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि हुइ जाई॥
रा० च० मा०

प्रकार लक्ष्मीजी उन जीवों के प्रति 'प्रियपर' हैं क्योंकि पिता 'हितपर' और माता 'प्रियपर' होती है।

हितपरता और प्रियपरता

पिता और माता, दोनों ही का व्यवहार ऐसा रहता है कि जिससे सन्तान का भला हो; किन्तु बालक के प्रति जितना 'ममत्व' माता का होता है उतना पिता का नहीं। यह ठीक है कि माता एक सीमा तक यह सह लेती है कि बालक के पिता उसके हित के लिए उसे ताड़ना दे रहे हैं, किन्तु जब वह उस 'ताड़ना' को देख नहीं सकती, तो स्वामी से सिफ़ारिश कर के बालक को उस ताड़ना से बचाती है। उदाहरण के लिए उस बालक को लीजिए जिसने अपनी अबोधता अथवा कुटिलता से कुछ दिन से पाठशाला में जाना बन्द कर दिया है। बालक का पिता उसकी भलाई के लिए उसे मारने-पीटने तक लग जाता है। यह दुःख बालक की माता दुःख से देखती है। पहले तो वह चुप रहती है क्योंकि वह जानती है कि स्वामी की चेष्टा बालक की भलाई के लिए है, परन्तु अधिक मार-पीट होने पर एक अवस्था ऐसी आती है जब उसकी माता बीच में पड़ कर उसकी रक्षा करती और कराती है और दुःखमयी वाणी से अपने स्वामी को यह कहे बिना नहीं रहती कि इसकी इतने दिन की अनुपस्थिति है तो एक दिन की और भी सही, अब इसे छोड़िये, बस रहने दीजिए। ऐसा कह कर वह उस समय उस बालक का पीछा छुड़ा देती है।

इस दृष्टान्त से, 'श्री लक्ष्मीजी का काम जीवों की 'बुराई' के लिए है,' ऐसा न समझ लेना चाहिए, क्योंकि दृष्टान्त प्रायः एक-देशी हुआ करता है। एक दिन पाठशाला न जाने से बालक के एक दिन के अध्ययन की जो क्षति हुई, वह बात यहाँ नहीं जुड़ती क्योंकि जो कर्म आरम्भ हो गया उसमें माता की वह चेष्टा पूर्णतः मानुषी है और यह जगज्जननी की चेष्टा है जो निःसन्देह जीवों के

कल्याण के लिए है। भगवान् अवश्य दयालु हैं, परन्तु स्वतंत्र हैं। जीवों के अपराध क्षमा करना न करना भगवान् की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु इन हरि-प्रिया श्री लक्ष्मीजी का तो यही व्यवहार रहता है कि वे कह-सुन कर जैसे-तैसे भी भगवान् से जीवों का अपराध क्षमा कराती हैं। जीवों का अपराध क्षमा होने से उनका बड़ा उपकार होता है, अपकार नहीं। लोक में दण्ड इसीलिए दिया जाता है कि भविष्य में अपराधी का आचरण ठीक रहे, बिना इसके (उसको यदि शिक्षा नहीं मिलेगी तो) वह विशेष अपराध करेगा। इस त्रुटि को श्री लक्ष्मीजी नहीं रहने देती हैं। उनका बड़ा भारी अधिकार है। माता पुत्र को कुए या तालाब में गिरते देखते ही उसकी रक्षा की भावना से उसके साथ कूद पड़ती है—कष्ट का अनुमान कर के रुकती नहीं है क्योंकि बालक के संबंध में उसका स्वरूप 'प्रियपर' है। जीव मात्र लक्ष्मीजी का पुत्र है, तथापि भगवज्जनों के प्रति उनकी दया का विशेष संचार होता है। रावणादि राक्षसों ने जब भारत के दक्षिण में भगवज्जनों को दुःख देना आरंभ किया तो एक स्थल ऐसा आया कि श्री जनकनन्दिनी सहन नहीं कर सकीं और स्वयं लंका में जाकर बैठ गईं जिससे मर्यादा‡ की रक्षा के लिए भगवान् स्वयं पधारे और दुष्टों का नाश करके अपने जनों की रक्षा की और सीताजी को उत्सव सहित ले आये।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि लक्ष्मीजी अपने पुत्रों (जीवों) के पालन की चेष्टा करती रहती हैं तो क्या राक्षस उनके पुत्र नहीं हैं? यदि हैं तो उनका पालन उन्होंने क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के उत्तर में गीता के इस श्लोक:—

"यदा यदाहि धर्मस्य····परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्····।
····सृजाम्यहम्"

की सार्थकता व्यक्त करते हुए यही कहा जा सकता है कि 'अवतार-

‡ न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति

चरित्र' में लोक-मर्यादा के निर्वाह का परित्याग नहीं किया जा सकता। यहाँ क्षमा से अधर्म का प्रसंग भी बनता है, किन्तु अधर्म को दबाने और धर्म की ग्लानि के निवारण के लिए ही अवतार होता है। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' में 'साधुओं का परित्राण' मुख्य अंग है और 'विनाशाय च दुष्कृताम्' का 'च-कार' अप्रधान के अर्थ में है अर्थात् भगवज्जनों का संरक्षण प्रधान है। दुष्टों का विनाश प्रधान नहीं है। प्रधान अंग संप्रदान करने के लिए इस अप्रधान अंग का परित्याग नहीं हो सकता, किन्तु यह बात भुलाने की नहीं है कि भगवत्संबन्ध, चाहे विरोध से ही सही, हो जाने से आगे उन दुष्ट जीवों का भी कल्याण ही होता है।

जयन्त के प्रति सीताजी का आचरण भी लक्ष्मीजी की 'प्रिय-परता' को ही प्रमाणित करता है। जब जयन्त जानकीजी के स्तन पर चोंच मार कर उड़ गया तो जहाँ-जहाँ वह गया उसके पीछ-पीछे अस्त्र भी गया, किन्तु उसका कुछ बिगाड़ नहीं किया, क्योंकि माता इतनी स्वतन्त्रता से काम नहीं करतीं कि भग-वत्प्रेरणा से छूटे हुए अस्त्र को लौटा देती; परन्तु उस जीव की रक्षा में प्रयोजन होने से अस्त्र का वेग इतना मन्द कर दिया कि वह साथ-साथ तो फिरता था किन्तु कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। जब काकासुर ने यह देख लिया कि किसी स्थान में भी रक्षा नहीं मिली तो लौट कर उसी स्थान पर राम के सामने आ गिरा। गिरते समय उसको यह भी सुध न रही कि भगवच्चरणारविंद की ओर अपना शिर करे, पैर न करे। माता ने जब उसको उलटा गिरा हुआ देखा तो उसका शिर भगवच्चरणारविंद की ओर कर के स्वामी से विनयपूर्वक प्रार्थना की कि आपका यह एक दास आपकी शरण में आ पड़ा है। इसको त्रिलोक में कहीं आश्रय नहीं मिला है। इस पर दया कीजिए। स्वामी ने कहा कि इस दुष्ट ने आपके स्तन पर चौंच मार कर क्या कोई कम अपराध किया है? यह दण्ड के योग्य है। इस पर महारानी सीता ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया

कि प्रभो, आप सर्वेश्वर हैं। इसको अन्यत्र कहीं शरण न मिलने से यह अनन्य गति होकर आपके चरण-कमलों में आ पड़ा है। आपके सब अंग होने पर भी जीव मात्र का आपके और अंगों से सम्बन्ध नहीं, केवल चरण-कमलों से विशेष सम्बन्ध है। इसी प्रकार माता के सब अंग होने पर भी उसकी सन्तति का विशेष सम्बन्ध उसके स्तनों से ही होता है। इस नियम का उल्लंघन इस जीव ने नहीं किया। इसने माता के स्तन पर ही मुँह लगाया है। आप निरवधिक वात्सल्य-सागर हैं, इस पर दया करें। ऐसा कह कर माता जानकी ने उस जीव पर कृपा करवा दी। इस प्रकार जीवों को श्री जगज्जननी से बहुत बड़ा सहारा मिलता रहता है।

आर्य-जीवन में अनेक कथा-वार्ताएँ पुराणों से चली आ रही हैं। पुराणों पर आजकल अनेक प्रहार हो रहे हैं। प्रसिद्ध है कि पुराण अठारह हैं, किन्तु अठारह ही उप-पुराण कहे जाते हैं। कहा जाता है कि पुराण विष्णु के माहात्म्य को विशेषता से प्रतिपादित करते हैं और छै ब्रह्मा और छै महेश का क्रमशः प्रतिपादन करते हैं। पुराणों के विषय में लोगों के अनेक मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पुराण मिथ्या हैं। इनमें ईश्वर के नियम के विरुद्ध बातें हैं जो समाज के लिए हानिकर हैं। कुछ लोगों का मत है कि भक्ति की मन्दाकिनी को बहाने का सुयश पुराणों को ही मिला है।

५. पुराणों का महत्त्व

कहने की आवश्यकता नहीं है कि संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उसी प्रकार उपदेशों की भी अनेक रीति हैं। जिसको जिससे लाभ होता है वह उसे ग्रहण करता है। वेद भी उपदेश देते हैं और पुराण भी। वेदों के उपदेश को प्रभु-सम्मितोपदेश कहते हैं और पुराणों की कथा-वार्ताओं से जो उपदेश मिलता है वह सुहृत्सम्मितोपदेश कहलाता है। दोनों का प्रयोजन एक ही है। वेद आज्ञा-रूप हैं। वेदोपदेशों को ही कथाओं में पिरो कर पुराण उसी

प्रकार समझाते हैं जैसे एक मित्र दूसरे मित्र को उदाहरणों से समझाता है। जिस व्यक्ति में वेदाज्ञा से लाभ उठाने की योग्यता नहीं है, उसका कथा-वार्ताओं से युक्त पुराणों के बिना काम कैसे चल सकता है? ऊँची योग्यतावाले उच्च श्रेणी के मनुष्य ही वेदाज्ञाओं को अधिकारपूर्वक ग्रहण कर सकते हैं; किन्तु उनको भी पुराणों की आवश्यकता इसलिए है कि उनमें वेदाज्ञाओं के पालन के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। अनेक पौराणिक कथा-वार्ताओं में भेद होते हुए भी उनका प्रयोजन जीव-कल्याण ही है।

जो लोग पुराणों को मिथ्या बताते हैं, वे अपनी उक्ति की पुष्टि के लिए प्रमाण नहीं देते। जो लोग इनमें ईश्वर के नियम के विरुद्ध बातें बताते हैं उनको दूर ही से प्रणाम करना अच्छा है। उनकी गिरा से यह आशय प्रकट होता है कि ईश्वर के नियम गिनती के अमुक-अमुक हैं और उन सब को हम जानते हैं। यह उपहास्य है क्योंकि ईश्वर के जिन समस्त व्यवहारों तथा नियमों को ब्रह्मादिक भी न जान सके उनको हमने कैसे जान लिया? अथवा हम में जितने व्यवहारों तथा नियमों को जानने की योग्यता है, ईश्वर के व्यवहार एवं नियम भी यदि उतने ही हैं, उनसे अधिक नहीं तो बस ईश्वर का भी निर्णय हुआ, क्योंकि इस तर्क से उसका वैभव सान्त सिद्ध होता है, किन्तु वस्तुतः वह अनन्त वैभववाला है। आपके या मेरे घटाने से ईश्वर का तो क्या, किसी का भी, वैभव घटाया नहीं जा सकता है।

पुराण ईश्वर के ईश्वरत्व के साक्षी हैं। यहाँ एक मनुष्य की वार्ता याद आ जाती है जो विदेश में पहुँच कर किसी धर्मशाला में जा टिका और वहाँ के रसोइये से भोजन बनवाया, परन्तु उसे किसी पहली बात के स्मरण से भोजन में शंका हो गई और ग्लानिपूर्वक विचार करता रहा कि समय और धन व्यर्थ गया। संभव है कि इस रसोइये ने भोजन में विष मिला दिया हो। इस प्रकार सोच-विचार के भ्रमों में फँस कर जब वह दुःख पा रहा था, एक व्यक्ति

उसके सामने से निकला और उसने उससे उस रसोइये के विषय में पूछ-ताछ की। वह बोला—"सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। रसोइया भला आदमी है। हम कई आदमी अनेक बार पहले भी इसके हाथों का भोजन कर चुके हैं। आप भी निःसन्देह भोजन कर लीजिए।" इतने पर भी उस यात्री की शंका का निवारण न हुआ। भोजन के प्रति उसकी ग्लानि ही बनी रही। अनेक परिचित मनुष्यों ने उसे इसी प्रकार समझाया और क्रमशः उसका भी सन्देह कम होता गया। एक सीमा पर पहुँच कर उसका सन्देह सर्वथा मिट गया और उसने भोजन कर लिया। रसोइये का चरित्र अच्छा होने से भोजन भी शुद्ध ही था, अतएव यात्री का कुछ अनिष्ट भी नहीं हुआ। अब तक जो उसका मिथ्या सन्देह था वह दूर हो गया। यदि इतनी गवाहियाँ नहीं गुजरतीं तो यात्री का सन्देह और क्लेश नहीं मिटता। पुराणों में ऐसी ही गवाहियाँ भरी हुई हैं जिनसे मनुष्यों की सन्मार्ग की प्रवृत्ति के प्रति उत्पन्न हुई ग्लानि दूर होती है। पुराण उदाहरणों द्वारा यह बतलाते हैं कि अमुक-अमुक ने ऐसा किया था जिसका अमुक-अमुक परिणाम हुआ। इन्हीं गवाहियों द्वारा सन्तुष्ट होकर मनुष्य आगे सन्मार्ग में प्रवृत्त होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्मार्ग में प्रवृत्त होने से सदैव उत्तम फल मिलता है। इसमें तो सन्देह भी क्या कि पुराणों की कथाओं से अगणित मनुष्यों को लाभ पहुँच चुका है। यह तो रही बात सुलक्ष्या सद्वार्ताओं की। किन्तु लोगों में अनेक ऐसी बातें भी प्रच-लित हैं जो असत् हैं परन्तु जिनका लक्ष्य उत्तम है।

> 'कितनी बार मोहि दूध पिवत भई,
> यह अजहूँ है छोटी।"

यशोदा के प्रति कृष्ण की इस भक्ति में सुलक्ष्या असद्वार्ता का ही उदाहरण है। प्रायः बालक दूध पीने में आना-कानी करते हैं किन्तु मातादिक जन बालक को यह कह कर 'बेटा दूध पीले तेरी चोटी बढ़ जायगी,' दूध पिलाते हैं। उनकी यह उक्ति किसी

अंश में सत्य भी हो, मिथ्या ही कही जायगी, किन्तु वक्ता का लक्ष्य उत्तम होता है । यदि बालक दूध पीता रहेगा तो शरीर पुष्ट हो जायगा ।

यह उदाहरण पुराणों के उदाहरणों से कुछ भिन्न है । बालकों को दूध पिलाने का चरित्र तो प्रति दिन आँखों के सामने होता रहता है और यह बात कहते, जानते और सुनते रहते हैं कि इसका मुख्य लक्ष्य चोटी बढ़ाना नहीं है, बालक के सब अंगों का पोषण करना है; परन्तु पुराणों के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे उनको मिथ्या माना जाए और जिनके ये वचन हैं वे लोग बहुत ऊँचे साक्षी हैं । उनकी गवाही पर आचण करने वाले बहुत लाभ उठा चुके हैं और उठा रहे हैं । फिर ग्लानि के लिए अवसर ही कहाँ है ? अनेक लोग सद्ज्ञान के बिना ही अपने को सद्ज्ञानी मान कर लोक में मिथ्या शंकाएँ प्रचलित करने लग गये हैं । उनसे भयभीत न होकर पुरुषार्थियों को पुरुषार्थ दिखाना चाहिए । प्राचीन भारत के लोगों के विश्वास दृढ़ थे, किन्तु धीरे-धीरे राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों ने उनमें क्रान्ति उत्पन्न करदी । देश में अनेक प्रकार की शंकाओं को जन्म मिला । उनमें से बहुत-सी तो मिट गईं और बहुत-सी मिटती जा रही हैं । जिस समय आँधी का 'बबूला' उठे उस समय खुंटी को दृढ़ता से पकड़ कर चिपका खड़ा रहे । बबूला निकल जाने पर खुंटी को छोड़े । यही बात धर्म की है । जब नास्तिकता की आँधी उठे तो धर्मनिष्ठ का कर्तव्य है कि वह अपनी आस्तिकता की खुँटी को दृढ़ता से पकड़े रहे । नहीं तो उड़ जाने का भय है ।

यदि कोई व्यक्ति पुराणों को मिथ्या कहता है तो उसके सामने गंगाजल का उदाहरण रखना चाहिए । सब जानते हैं कि गंगाजल अत्यन्त लाभदायक है । गंगा की धारा के पर्वतों से आने के कारण, यदि उसमें कंकड़-पत्थर भी आ गये हैं तो गंगाजल से प्रयोजन रखने-वाले उससे लाभ अवश्य उठाते हैं । जल के साथ आनेवाले पत्थरों

से न तो उनका प्रयोजन ही है, और न उनको बुरा-भला ही कहते हैं। इसी प्रकार लोगों को चाहिए कि कुतर्क का परित्याग करके पुराणों की कथाओं से लाभ उठावें।

अधिकार-भेद से जगत् में तीन प्रकार के मनुष्य हैं: एक तो वे हैं जो 'सत्यं ब्रूयात्' इतनी मात्र आज्ञा पा कर ही असत्य नहीं बोलते, सत्य ही बोलते हैं। दूसरे वे लोग हैं जिनमें ऐसी योग्यता नहीं है, उनको पुराणों की ऐसी कथाएँ सुनने से लाभ होगा कि अमुक-अमुक व्यक्ति असत्य बोले बिना न रह सके, अतएव उनको इतना-इतना दण्ड मिला और अमुक-अमुक ने अति कष्ट पाने पर भी सदा सत्य-व्यवहार किया और उनको ऐसा-ऐसा उच्च पद मिला। ऐसे उदाहरणों से इस श्रेणी के लोग मार्ग पर आ सकते हैं। तीसरे प्रकार के लोग वे हैं जिनका मन पुराणों की कथा में भी नहीं लगता। ऐसे मनुष्य हरिश्चन्द्र आदि के नाटकों में जब 'सत्यादि' के प्रत्यक्ष सफल दृश्यों को देखते हैं तो उनपर भी प्रभाव पड़ता है और सत्य का महत्व उनकी आँखों में होकर हृदय और बुद्धि पर जम जाता है। चौथे प्रकार के ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन पर किसी भी प्रकार से प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे अधम से भी अधम हैं। अधिकार-भेद की यह परिपाटी संसार से उठ नहीं सकती। सब प्रकार के मनुष्य इस संसार में रहते हैं। उनकी योग्यता के अनुरूप उन्हें सन्मार्ग में प्रवृत्त होने के निमित्त यहाँ प्ररेणा और प्रश्रय मिलते रहने ही चाहिए। उनका बन्द होना अच्छा नहीं है। पुराण भी ऐसी ही आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

सब मनुष्यों को एक ही प्रकार का उपदेश लाभप्रद नहीं हो सकता। मनुष्य की लाभ-ग्रहण-योग्यता के अनुरूप ही उपदेश-योजना होनी चाहिए। पुराणों में तीन प्रकार के वचन हैं जो तीन प्रकार के मनुष्यों के लिए हैं। एक प्रकार के वे मनुष्य है जो भयद वचनों से मार्ग पर चलते हैं, अन्यथा नहीं चलते। दूसरे वे हैं जो प्राप्ति की आशा से मार्ग पर चलते हैं। उनके लिए रोचक वचन हैं।' और

तीसरे वे हैं जो उत्तम मार्ग को उत्तम समझ कर ही उस पर चलते हैं। न तो वे भय से चलते है और न प्राप्ति की आशा से। उनके लिए यथार्थ वचनों का निर्देश है। पुराणों मे यह सब सामग्री प्रचुरता से मिलती है।

न क्षेम पाता तप से न दान से,
न लोक जाता भव-पार मंत्र से।
बिना किये अर्पण, कृष्ण, आपको,
प्रणाम, लीलावपुशील! प्रेम से ॥

'अरुण'

शरीर और प्राण की तरह दर्शन और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत की चिन्ता-धारा में धर्म जिस सूक्ष्म रूप से ओत-प्रोत है उस प्रकार अन्यत्र दुर्लभ है।

(६) भक्ति का विकास तथा रामानुज और उनके परवर्तियों की देन

भारत का प्राचीन धर्म व्यक्तिगत सुख और शान्ति के लिये ही नहीं था, अपितु उसके द्वारा समष्टिगत अभ्युदय की योजना का भी निर्माण किया गया था। भक्ति का संबंध धर्म और दर्शन दोनों से ही है। हाँ वह जितनी धर्म की ओर झुकी हुई है, उतनी दर्शन की ओर नहीं।

'भक्ति' शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ सेवा करना माना गया है। अतएव भगवान् की सेवा करने की स्थिति में ही भक्ति का स्वरूप बनता है। आर्य-धर्म में भक्ति का पदार्पण कब हुआ, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित तिथि बतलाना असंभव है; किन्तु यह सत्य है कि भक्ति का इतिहास अन्तर्लोक के विकास का इतिहास है जिसमें भारतीय संस्कृति के विकास का मनोवैज्ञानिक पक्ष निहित है। कुछ विद्वान् भक्ति का स्रोत विदेशी भाव-धारा को मानते हैं और कुछ विद्वानों के मत से इसका उद्गम भारतीय है। इसका बीज[1] वेद-मंत्रों में

(1) कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, *II*, पृ० ४८;

पाया जाता है। आर्य-जाति ने आरंभ से ही सम्पूर्ण जगत् में कार्य करने वाली शक्तियों को देव-रूप में ग्रहण किया था।

देव-पूजा से संबंधित वेद-मंत्रों में भक्ति[2] और श्रद्धा छलकती दीख पड़ती है। वरुण, सविता, उषा आदि के विषय में रचे हुए, आत्म-विभोर कर देने वाले, वेद-मंत्रों को पढ़ कर सच्ची भक्ति की अनुभूति न करना असंभव है, चाहे उसका दार्शनिक[3] आधार कितना ही अपूर्ण क्यों न हो। मंत्र-काल में ही ब्रह्मरूप[4] में एक ऐसी शक्ति की भावना कर ली गई थी जिसमें अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं के रूप में ग्रहण की गई भिन्न-भिन्न शक्तियों का समाहार था।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धार्मिक देवता वरुण थे। वे ऋत (सत्य) के संरक्षक थे। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही संभव माना गया था। लोग अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा की याचना करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-संरक्षक देवता थे। वे लोक-कल्याण के लिए अति पराक्रमी प्रसिद्ध थे। अग्नि देवता होता के यज्ञान्न को देवताओं तक वहन करते थे। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था जितना आगे चल कर उनको पौराणिक काल में दिया गया। वैदिक-काल का मानव अपने जीवन का अभ्युत्थान तप और सदाचार के द्वारा मानता था। इन्हीं के बल पर वह स्वर्ग पाने की कामना करता था।

ऋग्वेद मे विष्णु (सूर्यदेव) सर्वज्ञ (त्रिविक्रमो विश्वस्य) हैं और वरुण (नभोदेव) स्वर्ग का राजा (भुवनस्य राजा) है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक उद्धरणों से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता

(2) डाक्टर सील : कम्परेटिव स्टडीज इन वैष्णविज्म एण्ड क्रिश्चियनिटी;
(3) बेल्वेल्कर तथा राणाडे : हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी;
(4) ऋग्वेद १-२/१६४-६४।

है कि एक समिष्ट-शक्ति मंत्रकाल में ही नाना रूपों और व्यापारों द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लग गई थी। आगे चल कर उन सब देवताओं का ही तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा कर दी गई। इससे धर्म के इतिहास में दो नई बातों का समावेश होगया; एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी उस परम शक्ति की नाना रूपों में अभिव्यक्ति। ये ही दोनों तत्त्व आगे चल कर भक्ति के आधार के लिए अनिवार्य सिद्ध हुए।

वैष्णव भक्ति का रूप ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। उसमें विष्णु को सर्वोच्च देव का पद दिया गया है और वेदों के वे मंत्र भी जो इतर देवों से संबंधित हैं, विष्णु-विषयक बना दिये गये है। यही देव तैत्तिरीय आरण्यक में 'नारायणत्व' प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ नारायण एक प्राचीन ऋषि हैं जिनको 'पांचरात्र' लोग विष्णु के अवतार के रूप में पूजते हैं।

भक्ति-मार्ग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यकों और उपनिषदों के उपासना-काण्ड में हुआ दीख पड़ता है, जो ज्ञान-कांड का ही एक अंग है। ज्ञान-कांड के दो मार्ग हैं—एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्तिपरक ज्ञान-मार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष-समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्म-परक ज्ञान-मार्ग। कर्म-परक ज्ञान-मार्ग में कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदय तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति-मार्ग आरंभ हो गया। अथवा यों कहिये कि मनुष्य की बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से संचालन प्रारंभ हो गया।

उपनिषद् काल की धार्मिक परंपरा का आधार उस समय का दर्शन रहा। वेदों में जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदों में आनन्दस्वरूप, मानव-आनन्द का स्रोत, भी

मानली गई। जब वह शक्ति रस और आनन्दमय दीख पड़ी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गई। उसके पाने की चेष्टा स्वाभाविक हो गई। पर क्या उसे सब अपने प्रयत्नों से पा सकते हैं? कठोपनिषद् में इसका उत्तर नकारात्मक मिलता है। "वह आत्मा (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न मेधा तथा बहु-श्रवण से ही प्रापणीय है। वह जिसका वरण करती है, उसीको उसकी प्राप्ति होती है, उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देती है।"† स्पष्टतः इससे भक्ति-मार्ग का 'अनुग्रह'-सिद्धान्त प्रतिपन्न हो जाता है। श्वेताश्वतर‡ उपनिषद् में अनुग्रह-सिद्धान्त की ओर और भी अधिक स्पष्ट संकेत मिलता है। उसी से प्रपत्ति¶ भी ध्वनित होती है। भक्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों में ही हुआ है, किन्तु जिस भक्ति का बीजन्यास वेद-मंत्रों में और प्रस्फुटन उपनिषदों में हुआ है, वही महाभारत के समय के आसपास विकसित रूप में दीख पड़ती है।

यह कहा जा चुका है कि उपनिषद् काल में ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गई थी। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र में अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई और ब्रह्मज्ञानी पूर्ण रूप से निर्भय हुआ।

ब्रह्मज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद् काल में जो साधारण जनता वैदिक-कर्म-काण्ड से ऊब उठी थी, वह भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

उपनिषद् काल के पश्चात् साधारण जनता का धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण हो चला। सकुटुम्ब शिव तथा कृष्ण की भक्ति में मग्न

---

† कठ० उप० १-२-२३ तथा मुं० उप० ३.२.३
‡ श्वेताश्वतर उप० ६-२३
¶ श्वे० उप० ६-२३ तथा २-७

जनता जल, वृक्ष, पौधों तथा पशुओं में भी अलौकिक देव-कोटि की सत्ताओं का अस्तित्व मान कर उनकी पूजा करने लगी। देवताओं की मूर्तिओं की पूजा भी इसी युग से प्रचलित हुई। इसी युग में पुनर्जन्मवाद और कर्मफल की प्राप्ति की चर्चा भी विशेष रूप से हुई।

पूर्वजन्म के कर्मों के फल से मुक्ति पा लेना ईश्वर की कृपा से ही संभव हो सकता है। इसके लिए ईश्वर की भक्ति होनी चाहिए। भागवत-धर्म की स्थापना इसी सिद्धान्त को लेकर हुई। इसका प्रवर्तन वसुदेव के पुत्र वासुदेव ने किया। गीता भागवत धर्म का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें भक्ति को मानव की परम शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। भागवत धर्म में नवीनता तो अवश्य थी, पर प्राचीन वैदिक धर्म से उसका सामंजस्य कराने का सफल प्रयत्न तत्कालीन साहित्य में मिलता है।

भक्ति का तात्त्विक निरूपण भी सबसे पहले भगवद्‌गीता में ही मिलता है। भगवद्‌गीता महाभारत का ही एक अंग है। महाभारत काल के आसपास भगवान् का जो उपास्यरूप सामने आया वह बहुत व्यापक था। यादव-नेता श्री कृष्ण को उस समय विष्णु का अवतार मान लिया गया था जिसने अर्जुन को अपने विराट् रूप का परिचय दिया था। एक ही देव, वासुदेव में गुण समष्टि की कल्पना उनके विराट् स्वरूप को सिद्ध करती है। वासुदेवोपासना परम व्याकर्ता पाणिनि (५० ई० पूर्व) के समय में भी होती थी।

भगवान् वासुदेव के भक्त 'भागवत' कहलाये, जिनमें से एक यूनान का राजदूत, हेल्योडोरस (Heliodoros) भी था, जो ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भारत में आया था। महाभारत में दुर्गा की पूजा का भी उल्लेख है। आगे चल कर दुर्गा-पूजा शक्ति-पूजा के रूप में विकसित हुई। शाक्तमत का प्रचार हुआ। गुप्त-काल में

भी विष्णु और उनकी परमप्रिया लक्ष्मी की उपासना की जाती थी और गुप्त-सम्राटों को महाभागवत कहते थे, किन्तु गुप्त-काल में दुर्गा-पूजा का प्रचार विशेष रूप से हुआ। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति शाक्त-सम्प्रदाय भी लोक-प्रिय हुआ। इस सम्प्रदाय में बीभत्स और भयंकर विधानों के द्वारा दुर्गा या चंडिका देवी को सन्तुष्ट करने की विधि प्रचलित रही। मानव का बलिदान करके भी देवी को प्रसन्न करने तक की आयोजना प्रचलित थी। कुछ सुसंस्कृत लोग दुर्गा की पूजा मानवोचित ढंग से भी करते थे और केवल पत्र. पुष्प, फल, तोय, मिष्टान्न का नैवेद्य समर्पित करके दुर्गा को प्रसन्न करने का आयोजन करते थे।

हिंसा के विरोध में जैन और बौद्ध धर्म भी बहुत प्रगति कर चुके थे। समय बीतने पर गौतम बुद्ध देवता माने जाने लगे। कनिष्क के समय में उन्हें देवातिदेव की उपाधि दी गई। बैष्णव या भागवत धर्म के विष्णु की भाँति उनके अवतारों की कल्पना की गई। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा विकसित हुई। मौलिक बौद्ध-धर्म हीनयान रह गया। हीनयान यें कोई मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए प्रयत्न कर सकता है, पर महायान के अनुसार अनेक बार जन्म लेकर भी सभी प्राणियों की निर्वाण प्राप्ति का यत्न किया जाता था। इस प्रकार हीनयान महायान की तुलना में हीन सिद्ध होता है। नागार्जुन ने महायान शाखा के सिद्धांतों का विशद विवेचन करके उसे प्रतिष्ठित किया था।

महायान, शैव और वैष्णव धर्मों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मों में मन्दिर और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी। वैष्णव धर्म के अनुसार गौतम बुद्ध भी विष्णु के अवतार माने गये। दोनों धर्मों के निकट सम्पर्क में आने पर, समानता ही के कारण, वौद्ध धर्म वैष्णव धर्म में अन्तर्हित होने लगा। बौद्ध

धर्म की वज्रयान शाखा के तान्त्रिक शैव और शाक्त मतावलम्बियों के प्रायः समान ही थे ।

गुप्तकाल में राजाओं और ब्राह्मण पुरोहितों के वैदिक धर्म के साथ ही साथ साधारण जनता का भक्ति-मार्ग बहुत लोकप्रिय हुआ । गीता में बताई हुई वैष्णव भक्ति और श्वेताश्वतर उपनिषद में प्रतिष्ठित शैव-भक्ति की पद्धति पर चलने वाले लोगों की संख्या बढ़ती गई । इस भक्तिमार्ग का सब से अधिक प्रभावशाली रूप आज भी उस समय के बने हुए मन्दिरों और गुफाओं की मूर्तियों से प्रकट हो सकता है । जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी उस समय धार्मिक मूर्तिकला का विकास हुआ । इन देवताओं के अतिरिक्त सूर्य की उपासना का विशेष प्रचार भी इस समय बढ़ा ।

भक्ति का प्रधान ग्रंथ गीता है जो महाभारत का ही एक अंश है । महाभारत का रचना-काल सुनिश्चित तो नहीं है, किन्तु इसकी रचना की सम्भावना ई० पूर्व १००० से लेकर ई० पूर्व दूसरी शती तक की जाती है । ऐतिहासिक दृष्टि से गीता महाभारत का अंग अवश्य है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह उपनिषदों का सार है । फिर भी गीता की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं । प्राचीन उपनिषद-स्पष्टतः अद्वैतपरक हैं । गीता में ईश्वरवादी तत्त्व का प्राधान्य है । गीता का ईश्वर, रामानुज के परमेश्वर की भाँति, साक्षात् परब्रह्म होते हुए भी सगुण और साकार है । गीता में उपनिषदों की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व अधिक है । साथ ही उपनिषदों के वैराग्य और सन्यास को गीता में कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गई है । गीता में सन्यास की वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श का लोक-जीवन के कर्तव्य और धर्म से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है । यह समन्वय की भावना गीता की विशेषता और उसका मूल संदेश है ।

रामायण ने राम का जो रूप प्रस्तुत किया उससे भी उपास्य

का माधुर्य झलकता है। इस प्रकार राम और कृष्ण को आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत करने वाले सबसे प्राचीन और आदि ग्रंथ क्रमशः रामायण और -महाभारत हैं। राम और कृष्ण सम्बन्धी साहित्य का आदि प्रवाह इन्हीं ग्रन्थों से माना जाता है। रामायण का प्रणयन काल ई० पू० आठवीं शती के लगभग माना जाता है।

रामायण के पश्चात् रामविषयक काव्य कालिदास का 'रघुवंश' है। इसमें दिलीप से लेकर रघु, दशरथ, राम, कुश, आदि अनेक राजाओं का वर्णन मिलता है। इनमें से औरों की तो संक्षिप्त झाँकी मात्र है, पर राम की कथा को रामायण के आधार पर कुछ अधिक विस्तार दिया गया है। तीसरी शती के आसपास भास के नाटकों ने राम के चरित्र को उज्ज्वल दिखाने में भरसक प्रयत्न किया। सातवीं शती के उत्तरार्ध में भवभूति ने महावीरचरित और उत्तररामचरित लिखकर राम-काव्य के उत्थान में एक बड़ा अध्याय जोड़ा। उत्तररामचरित में लोक-सेवा और आत्मत्याग जीवन-साधना के प्रतीक हैं।

इधर पुराणों की सृष्टि भी अविकल रूप से भारतीय भक्ति-धारा के प्रवाह को प्रगति देती रही। रामायण और महाभारत इन पुराणों के स्रोत बने रहे। वैदिक काल में भी पुराण कोटि के साहित्य के उल्लेख मिलते हैं। पुराणों का वर्तमान रूप पाँचवीं शती से मिलने लगा है। सृष्टि, प्रलय और पुनः सृष्टि, आदिकालीन वंशावली, मनुओं के गुणों का वर्णन तथा राजवंशों का वर्णन—ये ही पुराणों के पाँच लक्षण हैं। जिन पुराणों में दार्शनिकता और भक्ति का पुट है वे प्रधानतः 'ब्रह्मपुराण' भागवत पुराण, और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' हैं। लिंग, वामन, और मार्कण्डेय पुराणों में शैव और शाक्त सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है। वराह, कूर्म, और मत्स्य पुराणों में विष्णु के अवतारों का प्रमुख रूप से वर्णन है। पुराणों से भिन्न, पर उसी कोटि के, अठारह उपपुराण भी हैं। उपपुराणों में पुराणों की अपेक्षा साम्प्रदायिक

विषयों की अधिक चर्चा है । इन पुराणों और उपपुराणों का सम्बन्ध वैदिक धर्म से है ।

अधिकांश पुराणों का दार्शनिक आधार ईश्वर वादी है। उपनिषदों के दुर्ग्राह्य निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण और साकार परमेश्वर सामान्य जन के लिए सुग्राह्य है । प्रायः पुराणों में विष्णु का ही प्रभुत्व और उनके अवतारों का वर्णन है, यद्यपि लिंग, स्कन्द आदि पुराणों में शिव को ही प्रधान माना गया है । उपासना के निरूपण का पुराणों में पर्याप्त महत्त्व है। सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण और लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत है । इसका प्रधान विषय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मनोहर कथा है । दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है जिसमें विष्णु की महत्ता का वर्णन है । ब्रह्म, पद्म, नारद और ब्रह्मवैवर्त पुराण भी विष्णु की श्रेष्ठता के ही समर्थक हैं । वाराह, वामन, कूर्म और मत्स्य पुराण में विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन है । वायु, लिंग और स्कन्द पुराणों में शिव की महत्ता का वर्णन है । विष्णु अथवा शिव की महत्ता का प्रतिपादन करनेवाले इन पुराणों में सहिष्णुता का दृष्टिकोण सामान्य है । कुछ पुराणों में विष्णु और शिव के एकत्व-प्रति-पादन द्वारा समन्वय का स्पष्ट प्रयास किया गया है ।

"धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना में भगवान् का लोक-रक्षा और लोक-मंगल वाला स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गई जो अत्यन्त गहन और प्रगाढ़ प्रेम का आलंबन हो सके । नारदीय भक्ति-सूत्र में भक्ति को 'परम प्रेमरूपा' कह कर इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है । शाण्डिल्य ने भी अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति को ईश्वर विषयक 'परमरति' बतलाया है । भक्ति का यह नवीन रूप एक भाव था जो भक्त को ईश्वर की उपासना, उसके सर्वत्र दर्शन और सान्निध्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता था । श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का मधुर फल* है ।" इस ग्रंथ में

---

* रामचन्द्र शुक्ल

यह सूचित किया गया है कि 'सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैष्कर्म्य-लक्षण† है। इसमें भक्ति को पूरी प्रधानता न मिलने से ही भागवत पुराण‡ कहा गया है। आगे चलकर यही भागवत पुराण कृष्णोपासकों के प्रेम-लक्षणा-भक्ति-योग का प्रधान ग्रंथ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम या भक्ति का आलम्बन हुआ।

विद्वानों* ने भागवत का रचना-काल ईसा की ६०० और ८०० शताब्दी के मध्य माना है। इसमें कृष्ण को प्रेम के आलम्ब के रूप में स्वीकार किया गया है। मनोहर बालक, प्रेमी युवक, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और साक्षात् ईश्वर, इन सभी रूपों में भागवत ने कृष्ण का चित्रण किया है। यह युगान्तरकारी ग्रन्थ था। न केवल नये भाव-सिद्धान्त के कारण, वरन् उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य के कारण भी देश ने शीघ्र ही इसके प्रभाव की प्रधानता स्वीकार करली। प्रत्येक प्रान्त में पौराणिकों ने इसके भावों और अभिव्यक्ति के रूपों को गावों के द्वार-द्वार पर पहुँचा दिया। शुद्ध 'भक्ति' को भागवत में अति मनोहर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई।

गीता और भागवत वैष्णवों के प्रधान ग्रन्थ हैं जिनमें गीता प्राचीन है और भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप प्रत्यक्ष करती है। तदुपरान्त भागवत में कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतंत्र क्षेत्र तैयार किया गया। पीछे भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष के प्रतिपादन के लिए कुछ छोटे ग्रन्थ भी बने। नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र और नारदपांचरात्र उन्हीं के उदाहरण हैं।

श्रीमद्भागवत के आविर्भाव के उपरान्त भक्ति ने जो बाह्य और आभ्यन्तर रूप प्राप्त किया, उसके प्रवर्तकों में चार मुख्य

---

† भागवत १. ३. ८ तथा ११. ४. ६

‡ भागवत १. ५. १२

* सूरदासः रामचन्द्रशुक्ल, पृ० ३२. तथा गुजरात एण्ड इट्स लिट्रेचरः के. एम. मुंशी पृ० १७६

आचार्य दिखाई पड़ते हैं–रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ। इन्होंने अपनी-अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलाई। रामानुज श्रीवैष्णव सम्प्रदायक के प्रवर्तक थे। निम्बार्क ने सन् ११५० ई० के लगभग तैलंगाना में सनक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसमें राधाकृष्ण की शुद्ध भक्ति पर ज़ोर दिया गया। मध्व (११९९-१२७८ ई०) ने उससे भी दृढ़ सम्प्रदाय–ब्रह्म सम्प्रदाय की नींव डाली। वल्लभ (१५ वीं शता.) ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन करके भगवान् के अनुग्रह पर विशेष ज़ोर दिया। इस सम्प्रदाय में बालकृष्ण की उपासना का विशेष महत्त्व है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति की नई धारा को प्रामुख्य देने वाला ग्रंथ भागवत था। भागवत में भाव-भक्ति का महत्त्व होते हुए भी 'राधा' का कोई उल्लेख नहीं है। रामानुज के समय में भागवत का प्रचार हो गया था, और उन्होंने उस पर श्रीभाष्य लिख कर उसकी मान्यता में भी योग दिया है, किन्तु भागवत के कृष्ण के स्थान पर रामानुजीय भक्ति में विष्णु ही प्रमुख रहे हैं। लक्ष्मी जी उनकी परमप्रिया रही हैं। विष्णु की स्थिति ने राधा को तो क्या, रुक्मिणी तक को श्रीसम्प्रदाय की मान्यताओं में प्रतिष्ठित नहीं होने दिया है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'राधा' का उदय भागवत के उपरान्त भक्ति की नई धारा के प्रवाह में ही हुआ है। इसका संकेत भागवत में मिलता है कि 'कृष्ण को एक गोपी अत्यन्त प्रिय हैं, पर 'राधा' का नाम सामने नहीं आता है। नई धारा ने ऐश्वर्यमयी लक्ष्मी अथवा महारानी रुक्मिणी के स्थान पर सामान्य लोक से अधिक मानवी प्रेममूर्ति 'राधा' को जन्म देकर ८०० ई० से पूर्व राष्ट्रीय कल्पना की प्रवृत्ति की एक संक्षिप्त रूप-रेखा भी रखदी है। ८५० ई० के आसपास 'ध्वन्यालोक' में श्रीकृष्ण के साथ-साथ राधा की पूजा भी दिखाई गई है। लगभग ९८० ई० में राधा को कृष्ण-भार्या के रूप में देखा गया है। धारा के राजा

अमोघवर्ष के शिलालेख (९८० के आसपास) से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है ।

आलवारों ने भक्ति के प्रचार में कुछ अवशेष नहीं रहने दिया था । वे 'ईश्वर के दीवाने' थे । उनमें से एक राजा, दूसरा भिखारी, तीसरी एक स्त्री, और चौथा एक शूद्र था । नारायण की जिस भक्ति का उक्त आलवारों ने प्रचार किया उसके अन्तर्गत 'परम प्रेम' और 'आत्मसमर्पण' से ईश्वर की प्राप्ति किसी को भी हो सकती है । इसमें जाति, पद और संस्कृति का कोई प्रतिबंध नहीं है । उनके 'भक्ति-गीत' 'वैष्णव-वेद' के नाम से दक्षिण में बड़े लोकप्रिय हो चुके हैं ।

इन आलवारों के उपरान्त आचार्यों का समय आता है जिन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया । सन् १००० ई० के आसपास यामुनाचार्य ने प्रपत्ति-सिद्धान्त को जन्म दिया । उन्हीं के प्रपौत्र रामानुज थे जिन्होंने भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतः दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके 'विशिष्टाद्वैतवाद' का पद दिया ।

पांचरात्र का प्रामाण्य सब को मान्य है, परन्तु श्रीवैष्णव-मत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है । वैष्णव पुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ ने अपनाया है । इन सब आचार्यों का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था । ये भक्त होने के साथ-साथ दार्शनिक भी थे । इन्होंने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के चिन्तन से ब्रह्म के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उक्त मतों में अपनी-अपनी रुचि और भावना का प्रकाशन किया है ।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य भाव का, द्वार खुल गया । सब सम्प्रदायों के कृष्ण भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा ।

वे कृष्ण को केवल प्रेम-क्रीड़ा के एकान्त क्षेत्र में रख कर ही देखते रहे। श्रद्धा का अवयव, जो महत्त्व की भावना में निमग्न करता है, छूट जाने से वे (कृष्ण-भक्त) कृष्ण के लोक-रक्षक और लोक-मंगलकारी स्वरूप को सामने न लासके। भगवान् के धर्म-स्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण-भक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्ण-भक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर-पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेक रूपता ‡ आई।

भागवत के पीछे जितने कृष्णोपासना-संबंधी संप्रदाय चले उन्होंने कृष्ण को वात्सल्य और शृंगार के आलंबन के रूप में ही लिया। उन्हें गोपीवल्लभ की प्रेममूर्ति ही आराधना के उपयुक्त दीख पड़ी। यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोक-कंटक आततायियों का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्ण-भक्तों ने भगवान् के स्वरूप में केवल सौन्दर्य ही देखा। इसके विपरीत रामोपासक भक्त-सम्प्रदाय शक्ति, शील और सौन्दर्य—तीनों विभूतियों से समन्वित 'राम' में अपने हृदय को लीन करता आया। यद्यपि भगवान् के इसी रूप में धर्म के पूर्ण रूप की भावना संनिहित रही है, फिर भी कृष्ण का सौन्दर्य (लीलादि में) भक्त हृदय को खींचता रहा है।

सन् १०१७ ई०-११२० ई० का युग रामानुज का समय था। उस समय धर्म-क्षेत्र में बड़ी उच्छृंखलता फैल रही थी। दर्शन के क्षेत्र में शंकर का मायावाद छारहा था और व्यवहार में अनेक मत-मतान्तर फैले हुए थे। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना

‡ रामचन्द्र शुक्लः सूरदास, पृ० १३२–

प्रचलित थी और मायावाद की आड़ में नाथ-सम्प्रदाय हठयोग का प्रचार कर रहा था। "पूर्व में वाममार्गी स्त्री-उपासक सहज-मत का जन्म हो गया था। त्रिपुरसुन्दरी-पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय में रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म का संगठन एक नये प्रकार से किया। उन्होंने उन सब धर्म-सम्प्रदायों को स्वीकार करलिया जो शास्त्र-विहित थे और उनका वैष्णव धर्म से संबंध स्थापित किया।"

शंकर ने शैव-धर्म के प्रचार के साथ-साथ बौद्ध शून्यवाद के खण्डन में ज्ञान का विशेष आश्रय लिया था। इससे उनका भक्ति-धर्म कोई विशेष प्रगति न कर सका। शंकर के मायामय अद्वैतवाद में भक्ति को सहारने की शक्ति न थी। उससे अस्मिता की वृद्धि के साथ-साथ निराशा की गति भी तीव्र थी। शंकर ने जिस मायावाद से जगत् को मिथ्या सिद्ध करके ब्रह्म और जीव की एकता सिद्ध की थी, रामानुज ने उसी पर आक्रमण करके जगत् की सत्यता का प्रतिपादन किया और जीव को ब्रह्म का (ईश्वर का) विशेषण बता कर विशिष्टाद्वैत का प्रवर्तन किया। रामानुज का नया मत खण्डन-मण्डन के लिए नहीं था, वरन् अहंताजन्य दोषों के निवारण एवं अद्वैतजन्य निराशा के स्थान पर आशा की प्रतिष्ठा के लिए था। अतएव जहाँ उन्होंने मायावाद का खण्डन किया, वहाँ अपनी उपासना-पद्धति में भक्ति को भी स्थान देने की आवश्यकता समझी। उन्होंने जहाँ द्विजातियों को भक्ति का अधिकार दिया, वहाँ शूद्रों के लिए प्रपत्ति का उपदेश किया।

रामानुज के उपरान्त वल्लभाचार्य (सन् १४७८-१५३०) तक भक्ति-आन्दोल के विकास की अनेक सरणियाँ बनीं। रामानुज के कुछ ही दिनों पश्चात् १२ वीं शताब्दी में आन्ध्रदेश में निम्बार्क उत्पन्न हुए। उन्होंने भक्ति और प्रपत्ति को एक मानकर भक्ति के क्षेत्र को विस्तीर्ण किया। रामानुज ने नारायण

तथा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व दिया था, परन्तु निम्बार्क ने कृष्ण तथा राधा को उपास्य माना। उनके कुछ ही समय पश्चात् उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई और व्रज और बंगाल में 'राधा' का प्रचार अधिकाधिक होता गया। कृष्ण के साथ राधा की अवतारणा भक्ति-आन्दोलन की एक बड़ी घटना है।

राधा की अवतारणा से भारतीय भक्ति-क्षेत्र में पहली बार मधुर-भाव की उपासना को जन्म मिला। इसी समय इस माधुर्य-भाव से मिलती-जुलती एक उपासना-पद्धति सूफियों ने भी अंकुरित कर रखी थी। शक्ति की उपासना के कारण बंगाल में 'मधुर-भाव' की भक्ति के लिए पहले ही पृष्ठ-भूमि बन चुकी थी। कृष्ण की लीला-भूमि, व्रज में तो उनकी अनेक लीलाओं का अभाव होने के लिए कारण ही क्या था ?

कृष्ण-भक्ति की दुंदुभि देश-भर में बज चुकी थी। दसवीं शताब्दी में पतनोन्मुख बौद्ध-धर्म ने बंगाल के कान्ह भट्ट के प्रभाव से प्रभावित होकर, गुरु के प्रति अवैध प्रेम एवं पूर्णतः कायिक तथा मानसिक समर्पण का प्रचार किया। इसीसे भक्त को मुक्ति मिल सकती थी। इधर लोक-गीतों, उत्सवों और त्यौहारों के द्वारा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ देश में अति प्रिय बन गई थीं। उन्होंने लोक-हृदय को तो विशेष रूप से जीत लिया था। इन दोनों धाराओं ने कृष्ण-भक्ति के प्रवाह को और भी दृढ़ बना दिया। ग्यारहवीं शताब्दी में उमापति ने और बारहवीं में गीतगोविन्दकार जयदेव ने कृष्ण-रस से आपूर्ण कलात्मक रचनाओं द्वारा भावुकों को मंत्रमुग्ध-सा कर लिया था। देश के भक्त-कलाकारों पर गीत-गोविन्द का प्रभाव तो इतना पड़ा कि अपनी रचना के एक शताब्दी के भीतर ही उसकी गणना 'क्लासिक' रचनाओं में होने लगी।

रामानुज के लगभग २०० वर्ष बाद सन् १२३७ ई० में मध्वाचार्य का जन्म हुआ। उन्होंने वैराग्य और नवधा भक्ति पर

विशेष जोर दिया। उन्होंने विष्णु को परमात्मा मान कर उनके अवतार राम और कृष्ण को उपास्य ठहराया, किन्तु कृष्ण पर अधिक बल दिया। इसके बाद विष्णु स्वामी ने महाराष्ट्र में विष्णु-भक्ति को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया।

चौदहवीं शताब्दी में नवद्वीप (नदिया), जहाँ परवर्ती बौद्धों ने प्रेम को ही निर्वाण का एकमात्र साधन बतलाया था, चंडीदास के रसभीने प्रेमगीतों से गूंज उठा। यह विद्वान् ब्राह्मण सहजिया सम्प्रदाय का था, किन्तु उसके प्रेमगीतों में लौकिक प्रेम अपने दिव्य और अलौकिक रूप में व्यक्त हुआ था।

रामानुजादि आचार्यों का संबंध दक्षिण से था। उनके मत की विशेष प्रतिष्ठा दक्षिण में ही हुई थी, किन्तु रामानन्द (१३३०-१४४५ ई०) ने दक्षिण के आचार्यों के मत को अधिक सार्वजनिक रूप देकर उत्तर भारत में प्रचलित करने का विशेष श्रेय प्राप्त किया। रामानन्द ने रामानुज के श्रीसम्प्रदाय को व्यापक और लोक-प्रिय बनाया। उन्होंने भक्ति-क्षेत्र में स्त्रियों और अछूतों तक को अधिकार दिया। विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर उनके अवतार राम की भक्ति का प्रचार भी इन्होंने ही किया। इनके उपदेशों की विशेषता यह थी कि वे संस्कृत में न होकर लोक-भाषा में थे। भाषा के क्षेत्र में यह एक अपूर्व क्रान्ति थी।

रामानन्द के पश्चात् तो उत्तर भारत में भक्ति का तार बँध गया। रामानन्द के कुछ विशेष सिद्धान्तों के प्रभाव से संतमत का उदय हुआ। संतों में सबसे अधिक लोक-प्रिय कबीर (१३९८ ई०-१५१८ ई०) हुए जो संतमत के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। सन्त-मत में राम का सगुण साकार रूप छोड़ कर निर्गुण निराकार रूप स्वीकार किया गया। यद्यपि भारत के धार्मिक इतिहास में सन्तमत एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन के नाम से विख्यात रहेगा, किन्तु उसका मेरुदण्ड भक्ति-भाव ही था। कबीर, उनके समकालीनों और अनु-

यायियों के प्रयास से संतों के अनेक सम्प्रदाय शीघ्र ही स्थापित हो गये और उन्होंने समस्त उत्तर भारत को रागात्मिका भक्ति की लहर में डुबा दिया।

वैष्णव भक्ति की परंपरा में प्रेम के आलम्बन राम और कृष्ण (विष्णु के अवतार) ही रहे हैं, किन्तु रामानन्द के पश्चात् कबीर आदि निर्गुण सन्तों के हाथों में पड़कर 'राम' अपने रूप और गुण को खोकर 'निर्गुण-निराकार' ही रह जाते हैं। यों तो 'हरि' आदि नाम भी सन्त-भक्तों की रचनाओं में मिलते हैं, किन्तु वे सब एक ही निर्गुण के प्रतीक हैं। "ना दसरथ घरि औतरि आवा, ना जसवै लै गोद खिलावा", कह कर कबीर ने 'राम' और 'कृष्ण' से अवतारत्व छीन कर उन्हें निर्गुण बना दिया है। इस निर्गुण परमात्मा की प्राप्ति के साधन में कबीरादि ने कायिक तत्त्वों को बड़ा महत्त्व दिया है। उन्होंने भक्ति को न केवल अव्यक्त में निहित किया है, वरन् कायिक साधना का प्रचार भी किया है। इससे भक्ति सरल के स्थान पर जटिल और दुरूह बन गई है। वैष्णव भक्ति के आधार, रागात्मिका वृत्ति में ऐसी जटिलता के लिए कोई अवकाश नहीं है। उसमें प्रेम का वह सरल रूप है जिसे सब लोग जानते हैं। जिन वैष्णव भक्तों का अन्यत्र नाम लिया जा चुका है, उनकी प्रवृत्ति इसी सरलता और सुगमता की ओर रही है। वे किसी ज्योति या प्रकाश का ध्यान नहीं करते, प्रत्युत वे उस रूप-माधुरी को मन में लाने के लिए ध्यान करते हैं जिसकी कल्पना रूप बन कर उनकी दृष्टि में समाई हुई है। उनका ध्यान किसी 'अनाहत नाद' का आश्रय नहीं लेता और न वे सुरति-निरति के झमेले में पड़ कर किसी अव्यक्त निर्गुण तक पहुँचने का प्रयत्न ही करते हैं। अतएव सत्य यह है कि वैष्णव भक्ति का रागात्मक रूप सहजयानियों और नाथपंथियों के कायिक आग्रहों के कारण विकृत हो गया। उन्हीं के प्रभाव से कबीर का प्रेम सफल नहीं हो पाया है, यद्यपि कबीर ने उसकी सफलता के लिए

भरसक चेष्टा की है। संत-मत में 'निर्गुण' का आग्रह भारतीय भक्ति-मार्ग में अपूर्व उत्क्रांति है। निर्गुण और अव्यक्त को लेकर कभी कोई भक्ति-मार्ग भारतीय आर्य-धर्म के भीतर नहीं चला।

निर्गुणोपासना में माधुर्य-भाव की स्थिति भी दिखाई पड़ती है, किन्तु उसमें लीलापक्ष का अभाव है। वहाँ केवल ध्यानपक्ष है, ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अतः पति के रूप का मूल में ही आरोप करना पड़ता है। कृष्ण-भक्ति-मार्ग में जो कृष्ण लिए गये हैं, वे वास्तव में श्रृंगार के आलंबन रहे हैं; पर इस्लाम या ईसाई-धर्म में प्रियतम का आरोपमात्र है। इस कारण इन धर्मों के भक्तों में माधुर्य-भाव रहस्यवाद का एक अंग है, पर कृष्णोपासकों में वह भगवान् की नरलीला का एक विज्ञात अंग है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं के आदि में कृष्ण भक्ति ने भारत में एक धार्मिक क्रान्ति को जन्म देकर भक्ति को मधुरतर बना दिया। इस काल के कुछ पूर्व वल्लभाचार्य के गुरु, विष्णु स्वामी, जो सन्त ज्ञानेश्वर के भी गुरु थे, राधाकृष्ण सम्प्रदाय का बड़े ज़ोरों से प्रचार कर चुके थे। महाराष्ट्र प्रदेश में सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम ने जिस भक्ति का प्रचार किया, उसमें राधाकृष्ण के महत्त्व की प्रतिष्ठा के साथ-साथ 'कान्त-भाव' की पावनता सुरक्षित थी, किन्तु चैतन्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति में मधुर भाव को प्रतिष्ठित किया गया था। उसमें राधा और कृष्ण के, प्रिया और प्रेमी के, हृदयों का प्रबल आकर्षण है। चैतन्य की भक्ति में 'बौद्ध-भक्ति' की छाया स्पष्ट है।

चैतन्य का समय १४८५ ई० से १५८५ तक है। यद्यपि उनका सम्बन्ध प्रधानतः बंगाल से रहा, किन्तु उन्होंने व्रज-देश के गौडीय वैष्णवों को एक नई दिशा प्रदान की और उनकी भक्ति-भावना ने व्रज के भक्तों और भक्त-सम्प्रदायों को भी प्रभावित किया। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि चैतन्य की भक्ति में 'मधुर-भाव'

की प्रधानता थी। वे राधा के महाभाव को आदर्श मानते थे। भक्त का लक्ष्य भी साधना द्वारा इसी तन्मयता का उपलाभ होना चाहिए, यह उनकी साधना का मूल मन्त्र था। उनकी साधना मुख्यतः व्यक्तिगत साधना थी और उसे शास्त्र का रूप बहुत बाद में दिया गया।

चैतन्य के समकालीन श्री वल्लभाचार्य थे। भक्ति-क्षेत्र में उनका उदय चैतन्य से कुछ पहले हो चुका था। वल्लभाचार्य का समय १४७८ ई० से १५३० ई० तक माना जाता है। वे शास्त्रज्ञ और संस्कृत के धुरन्धर पंडित थे। वे आचार्य भी थे, केवल साधक और भक्त ही नहीं थे। उन्होंने अन्य आचार्यों की तरह जीव, ब्रह्म, माया, जगत् आदि दार्शनिक विषयों पर गूढ़ गवेषणाएँ कीं और शंकर के मायावाद के विरोध में 'शुद्धाद्वैत' दर्शन की प्रतिष्ठा की। उपासना के क्षेत्र में उन्होंने राधा को स्वीकार नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि वे मधुर भक्ति के समर्थक नहीं थे। उन्होंने श्रृंगारपूर्ण प्रसंगों को रूपक बना कर भागवत की व्याख्या की। उन्हें केवल मात्र लीला नहीं माना। इससे उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः हमारे सामने आ जाता है। उन्होंने बालकृष्ण की (नवनीतप्रिय की) उपासना का एक विस्तृत आयोजन खड़ा किया। इसमें श्रीकृष्ण की बालमूर्ति (श्रीनाथजी) की उपासना की जाती है।

वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विठ्ठलनाथजी ने 'अष्टछाप' की स्थापना कर के भक्ति के पायों को और भी दृढ़ कर दिया था। रूप और जीव गोस्वामियों ने भी भक्ति के प्रसार में कुछ कम सहयोग नहीं दिया था। 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' भक्ति-सम्बन्धित अनूठे ग्रन्थ हैं। इधर अष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास को भला कौन भुला सकता है? इन सब में सूरदास ने भक्ति के प्रसार में अधिक योग दिया। सूरसागर भक्त सूरदास के हृदय का स्वाभाविक उन्मेष है। उसमें

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक विकसित भक्ति-भावना के उत्कृष्ट रूप के दर्शन होते हैं। सूर की कविता वल्लभीय पुष्टिमार्ग और शुद्धाद्वैत-सम्बन्धी मान्यताओं पर तो पूरी उतरती ही है, वह स्वयं भी अपने में पूर्ण है और उसमें तत्कालीन भक्ति-भावना के विविध रूपों (दास्य, वात्सल्य, माधुर्य एवं सख्य) के सुन्दरतम दर्शन होते हैं।

इधर राम-भक्ति के क्षेत्र में भी अनेक भक्त अवतीर्ण हुए हैं, किन्तु रामानन्द के बाद भक्तों में किसी का नाम विशेष रूप से स्मरण किया जाता है तो तुलसीदास का। तुलसीदास ने उत्तर-भारत के भक्ति-क्षेत्र में जो क्रान्ति की उसे भारत का इतिहास ही नहीं, भविष्य भी भुला नहीं सकता। वे प्रमुखतः भक्त थे, तदनन्तर कवि; किन्तु कहीं-कहीं उनका 'चिन्तक' भी मुखर हो उठता है। उन्होंने उत्तर-कांड में ईश्वर, जीव, भक्ति आदि की जो व्याख्या प्रस्तुत की हं, उससे हम उनकी सैद्धान्तिक रुचि का भी अनुमान लगा सकते हैं। इसके विपरीत सूरदास ने अपने काव्य में कहीं भी इस रुचि को प्रकाशित नहीं किया। उनका काव्य उनकी भक्ति-साधना का अनिवार्य अंग था। दूसरों के लिए वह भले ही काव्य हो, किन्तु सूरदास के लिए वह उनकी वृत्तियों के परिष्कार का साधन था। वह भगवल्लीला का ज्ञान मात्र था। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे पुष्टिमार्ग के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों से अवगत नहीं थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि वे पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों से अच्छी तरह अवगत थे। विठ्ठलनाथजी ने तो उन्हें 'पुष्टिमार्ग' का जहाज तक कह डाला है।

सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् भक्ति-धारा की प्रगति रुक गई। अनेक सम्प्रदायों में टूट-फूट होकर पुराने सिद्धान्तों का ही पिष्ट-पेषण होता रहा। जनता के हृदय में भक्ति का कितना ही प्रभाव रहा हो, लेखनी पर भक्ति का प्रभाव शिथिल पड़ गया था। रीति-

कालीन प्रवृत्तियों ने लेखनी की दिशा बदल दी थी। इस समय से पूर्व राजनीतिक परतंत्रता के होते हुए भी जन-मन स्वतंत्र था, किंतु इस समय मानसिक परतन्त्रता का बोलबाला होने से काव्य-रुचि एकदेशीय हो गई थी। यह कहना अनुचित न होगा कि रीति-काल में कवि लोग एक विशेष दिशा पकड़ कर खूब बढ़े, किन्तु उनकी वह गति चक्राकार थी जिसमें प्रायः गतानुगतिकता ही प्रवृत्ति बन गई थी। इसके बाद भी भक्ति को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। अंग्रेज़ों की राजनीतिक चालों में पश्चिमी पवन के झोंकों से भक्ति की सरसता और भी क्षीण हो गई।

भारतेन्दु के उदय से भक्ति-क्षेत्रीय सरसता सजग हुई। देश और जाति के लिए परमात्मा का सहारा पाने के लिए प्रार्थनाएँ की गईं। लोक-प्रेम उमड़ा और भक्ति में उसकी परिणति दिखाई दी, किन्तु भक्ति को अब भी बहुतसे पोषक न मिल सके। द्विवेदी-युग के मध्यान्ह में मैथिलीशरणजी की भक्ति-भावना मचली और प्राचीन उपास्यों को अपनी रचनाओं का नायक बना कर उन्होंने भक्ति को मानों डूबने से बचाया। इसी समय के आस-पास कवि-रत्न 'रत्नाकर' और 'हरिऔध' जी ने भक्ति का हाथ पकड़ा। परिणामतः साहित्यिक विविधता में 'भक्ति' की धारा भी बहती चली जा रही है।

६. संस्कृत के भक्ति-ग्रन्थों एवं भक्तिकालीन हिंदी-रचनाओं के आधार पर भक्ति-विवेचना

भक्ति का मूल तत्त्व भगवान की सेवा करना है। सेवा का यह भाव न तो सेव्य के भय के कारण उदित होता है और न सेवक के स्वार्थ के कारण। उसमें केवल शुद्ध प्रेम की प्रेरणा होती है। भक्त और दुनियादार की प्रेम-पद्धति एकसी होती है। विनय-पत्रिका के एक पद में यही लक्षण दिखलाते हुए तुलसीदास कहते हैं:—'क्या अच्छा हो कि यह मन सहज ही राम के चरणों में इस प्रकार लग

भक्ति का स्वरूप

जाए जैसे देह, गेह, धन, पुत्र, कलत्र आदि में यह सहज ही मग्न हो जाता है। तभी समझिये कि भक्त का उदय हो गया, भगवान् के चरणों में दृढ़ प्रेम हो गया। बस, फिर क्या है ? द्वंद्वों से मुक्ति मिल जायगी, अभिमान दूर हो जायगा, ज्ञान में तल्लीनता हो जायगी, विषयों से विरति हो जायगी, अनेक परीक्षाओं में सफलता मिलेगी और सर्व हितैषिता तथा मन की निर्मलता सिद्ध हो जायगी। भला, फिर सुख-निधि, चतुर भगवान् राम प्रसन्न होकर वशीभूत क्यों न होंगे ? किन्तु यह राम के अनुग्रह से ही सम्भव हो सकता है।"[1] अतः तुलसीदास भगवान् से इसी प्रकार के प्रेम की याचना करते हैं कि "हे रघुनाथ, जिस प्रकार कामी को स्त्री और लोभी को धन प्रिय लगता है उसी प्रकार आप मुझे निरन्तर प्रिय लगते रहें।"[2] सम्भवतः ऐसी प्रेम-पद्धति की शिक्षा तुलसीदास को भक्त प्रह्लाद से मिली हो। वे भी विष्णु पुराण[3] में भगवान् से ऐसी ही भक्ति की याचना करते हैं। पार्थिव प्रेम और भगवत्प्रेम की पद्धति एक होते हुए भी दोनों की स्थितियों में प्रथित अन्तर है। आसक्ति के सब पार्थिव लक्ष्य नश्वर होने से सान्त हैं, किन्तु भक्ति का लक्ष्य अनश्वर और अनन्त है।

जब अनुरक्ति का प्रवाह अनेक से एक की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, जगत् से भगवान् के चरणों की ओर मुड़ जाता है, उसी दशा में भक्ति का रूप बनता है। विनयपत्रिका में भक्ति का यही रूप सामने रखते हुए तुलसीदास कहते हैः "जिसे श्रीराम और सीता प्रिय नहीं हैं उसे करोडों वैरियों के समान समझ कर छोड़

1 वि० पू०, २०४

2 कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।।

3 या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।।

वि० पु०, १.२०.१६

देना चाहिये, चाहे वह अपना परम स्नेही ही क्यों न हो।......
जिसके कारण राम के चरणों में स्नेह हो, वही सब प्रकार से हितैषी, पूज्य और प्राणों से भी अधिक प्रिय है। बस यही हमारा सिद्धान्त है।"[1] यही अनन्य भक्ति का लक्षण है।

राम के पूछने पर उनके निवासोचित स्थान बतलाते हुए वाल्मीकि उक्त लक्षण ही की ओर संकेत करते हुए कहते हैं: "हे तात ! स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु—सब कुछ जिनके तुम्हीं हो उनके मन-मंदिर में तुम दोनों भाई सीतासहित निवास करो[2]।"

और वनगमन के लिए उद्यत लक्ष्मण राम के प्रति अपनी विनयोक्ति में उसी अनन्यता का परिचय इस प्रकार देते हैं: "हे नाथ ! मैं स्वभाव से कह रहा हूँ, मेरा विश्वास कीजिए कि मैं आपके सिवा और किसी को माता, पिता और गुरु नहीं समझता हूँ। हे दीनबन्धो ! सर्वान्तर्यामिन् जगत् में जहाँ तक स्नेह और नाते हैं तथा शास्त्र में जिनके प्रति प्रीति और विश्वास की बात कही गई है, मेरे लिये तो वह सब कुछ आप ही हैं[3]।"

अनन्य भक्ति का यह लक्षण नया आविष्कार नहीं है। शांडिल्य के "सा परानुरक्तिरीश्वरे[4], इस सूत्र में इसी लक्षण की ओर संकेत है और नारद ने "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा[5]" द्वारा इसी की पुष्टि की है। भक्ति की परमता केवल परमात्मा में सिद्ध होती है क्योंकि जगत् के अनित्य नानात्व के नित्य समाहार की प्रतीति उसी में होती है। जब तक नानात्व के साथ संबंध रहेगा प्रेम परमता को प्राप्त न हो सकेगा। नानात्व से अनानात्व में, अनेकत्व से एकत्व में पहुँच कर ही प्रेम अपने अखंड रूप में प्रकट हो सकेगा। नानात्व

---

1. वि० प०, १७४: तु० की०, ना० भ० सू०, ११
2. रा० च० मा०, पृ० ४६७
3. रा० च० मा०, पृ० ४१५
4. शां० भ० सू०, २
5. ना० भ० सू०, २

की तुच्छता सामने आजायगी और प्रेम का आलंबन (समष्टि-संबंध का प्रतीक) सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होने लगेगा। कदाचित् प्रेम की ऐसी ही अवस्था में सूरदास लिखते हैं: "भक्त का भगवान् जैसा कोई दूसरा स्वामी नहीं है। सेवक को जिस प्रकार भी सुख मिले भगवान् उसे उसी प्रकार रखता है। वह भूखे को भोजन, प्यासे को जल और नंगे को वस्त्र देता है। वह अपने भक्त के साथ उसी प्रकार लगा फिरता है जैसे घर-वन जाते-आते-समय गाय अपने बछड़े के साथ लगी फिरती है। वह अत्यंत उदार, चतुर, अभिलाषा पूर्ण करने वाला, और निर्धन के लिए करोड़ों कुबेर के समान है। वह याचना करने वाले अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखता है। संकट पड़ने पर तुरन्त दौड़ा आता है, वह ऐसा प्रणवीर है। वह महा कृतघ्न पुरुषों तक के लिए करोड़ों उपकार करता है और एक को भी हृदय में नहीं लाता[1]।"

इसी प्रकार विनयपत्रिका (पद १६२) में तुलसीदास 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं' से राम के औदार्य की अनुपमता प्रतिष्ठित करते हैं। अनन्य प्रेम की दशा में भक्त को भगवान् में ऐसे अनन्त गुणों का दर्शन होता रहता है जो उसके आकर्षण का केन्द्र बने रहते हैं।

भक्ति स्वयं फलरूपा[2] है, अत: वह निर्हेतुक है और परानुरक्ति भी निष्काम भक्ति ही को कह सकते हैं। भक्ति का यह स्वरूप गीता,[3] भागवत[4] आदि तक ही सीमित नहीं है, आगे भी बढ़ा चला आता है और इससे प्रभावित होकर रसखान घोषणा कर उठते हैं कि "शुद्ध और अखंड प्रेम वह है जिसके लिए यौवन, गुण, रूप

---

1 सू० सा०, पृ० ३

2 ना० भ० सू०, ३०

3 गीता ६. २७, २८ तथा गीता १२. ११

4 भाग० १. २. ६

और धन की अपेक्षा नहीं है, जो स्वहित या स्वार्थ से रहित है और जिसमें कामना का लेश तक नहीं है[1]।"

प्रेम की अखंडता निष्काम भक्ति में ही रह सकती है। अतः गीता में भगवान् ने स्थान-स्थान पर 'निष्कामत्व' का उपदेश दिया है। वे अर्जुन से कहते हैं "हे कौन्तेय! तू जो करे, जो खाए, जो हवन में होम करे, जो दान में दे, जो तप करे वह सब मुझे अर्पण करके कर। इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्मबन्धन से छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर ,जन्म-मरण से मुक्त होकर मुझे पाएगा[2]।" इसी उपदेश को मानों अंगीकार करके कबीर भक्तोचित सहज दैन्य के साथ अपने समर्पण में अनासक्ति का भाव भर कर कहते हैं। "मेरा क्या है ? मेरा तो कुछ नहीं। जो कुछ है सब तेरा ही है। तेरा तुझे सौंपने में मेरा क्या लगता है[3] ?"

भक्ति अमृतस्वरूपा[4] कही जाती है। उसमें लोकोत्तर माधुर्य होता है। "जिस प्रकार मूक गुड़ के स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता उसी प्रकार भगवत्प्रेम वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता[5]।" इस रस को जो चखता है वही जानता है।

भक्ति-विभोर भक्त को भगवान् के सिवा और कुछ नहीं दीखता। वह जिधर देखता है उधर उसे भगवान् का ही दर्शन होता है। "नेत्र, वाणी, मन—शरीर का कोना-कोना-प्रियतम का आवास

---

1 बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि।

2 गीता ९. २७, २८ तथा तथा १२. ११ तथा देखिये, ना० भ० सू०, ६५

3 मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपतां, का लागै है मेरा। क० ग्रं० पृ० १९
तु० की०, ना० भ० सू०, ६५

4 देखिये ना० भ० सू०, ३

5 कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया बूझै तो का कहिये। क० ग्रं०, पृ० १३१
तु० की०; ना० भ० सू०, ५१, ५२

बन जाता है ।"[1] यही तो भगवदासक्ति की वह अवस्था होती है जिसमें पर-छवि के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। उसी की मानों अनुभूति करके रहीम कहते हैं। "नेत्रों में तो प्रियतम की माधुरी बसी हुई है, दूसरे का सौन्दर्य कहाँ समाएगा ? वह अपने आप ही लौट जाएगा, जैसे सराय को भरी देख कर पथिक स्वतः ही लौट जाता है।"[2] सूरदास की गोपियों के हृदय में भी नंद-नंदन के सिवा और किसी के लिए स्थान नहीं है। भला, उनके होते हुए किसी और को कैसे बुलाया जा सकता है।[3] इसी अवस्था में प्रेमी, प्रेम और प्रिय में कोई अन्तर नहीं रहता।[4]

भगवान् भक्ति द्वारा ही मिलते हैं, परन्तु भक्ति हर किसी को मिलती भी तो नहीं। वह केवल उसी को मिलती है जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है।[5] सच तो यह है कि "भगवान् को केवल प्रेम (भक्ति) प्यारा है।"[6] प्रेम के कारण ही भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में निवास करते है। भरत भक्ति की इसी स्थिति में हैं। भरत के प्रेम ने राम को इतना मुग्ध कर लिया है

---

1 नंद० ग्र०, पृ० १२६ : तु० की०, ना० भ० सू०, ५५

2 प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय ।।

3 देखिये सूरदास :
"नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और ।।"

4 देखिये रहीम :
प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक हि ह्वै द्वै में लसै, ज्यों सूरज अरु धूप ।।

5 तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन ।
जानहिं भगत भगत उर चन्दन ।। रा० च० मा०, पृ० ४६४
तु० की०, "भगवत्कृपालेशाद्वा" ना० भ० सू०, ३८

6 रा० च० मा०, पृ० ४७२ : "रामहिं केवल प्रेम पियारा"
तु० की०, महाभारत, १२.३४३.५४, ५५

कि "जगत् राम को जपता है और राम भरत को जपते हैं।[1] प्रेम का यह आकर्षण, भक्ति का यह जादू भगवान् ने गीता में स्वयं स्वीकार किया है। वे कहते हैं–"यद्यपि मैं सब प्राणियों में समभाव से रहता हूँ, मुझे किसी से रागद्वेष नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझ में और मैं उनमें रहता हूँ।"[2] तुलसीदास ने भगवान् की इस प्रवृत्ति को वृहस्पति के मुख से इन्द्र के प्रति इन शब्दों में व्यक्त करवाया है—"यद्यपि राम समदर्शी हैं, उन्हें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है, वे किसी के पाप-पुण्य या गुण-दोष को ग्रहण नहीं करते हैं, उन्होंने सारे संसार के लिए कर्म प्रधान कर रक्खा है, जो जैसा करता है वैसा फल पाता है, तथापि वे भक्त-अभक्त के हृदय के अनुसार सम-विषम विहार करते हैं।"[3] "उन्हें अपने दास से अधिक प्रीति होती है।"[4]

भक्ति पापों को नष्ट कर देती है। भगवान् की शरण में आ जाने पर पापी भी पुण्यात्मा हो जाते हैं। अपावन को पावन करना अशरण को शरण देना तथा अरक्षित की रक्षा करना भगवान् का स्वभाव है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए रामचरित मानस में भरत राम से कहते हैं—'हे नाथ! आपकी रीति, सुन्दर स्वभाव और बड़ाई जगत् में विख्यात है। इनकी वेद शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा है। क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुमति, कलंकी, नीच, निःशील, निरीश और निःशंक को भी सामने शरण में आया हुआ सुनकर, एक बार प्रणाम करते ही, आप तुरन्त अपना लेते हैं। उनके दोषों को हृदय में न लाकर आप साधु-मंडली में उनके गुणों की ही प्रशंसा करते

---

1 रा० च० मा०, पृ० ५४४ : "भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही॥"
तु० की०, गीता ६. २६ 'मयि ते तेषु चाप्यहम्।'

2 गीता ६.२६

3 रा० च० मा०, पृ० ५४५

4 देखिये, रा० च मा०, पृ० ६६१

हैं।"[1] गीता में भगवान् ने भक्ति की महिमा और अपने स्वभाव का ऐसा ही वर्णन किया है।

भक्ति रस का स्वाद ले लेने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब तुच्छ एवं हेय दीख पड़ते हैं। भक्त तो शरीर की उपयोगिता तक भक्ति के संबंध से ही मानता है। यदि इस शरीर का उपयोग भगवान् की भक्ति के लिए नहीं हुआ तो यह व्यर्थ है। अतः तुलसीदास कहते हैं—"जिन्होंने अपने कानों से भगवान् की कथा नहीं सुनी उनके कान साँप के बिल के समान हैं। जिन्होंने अपनी आँखों से संतों के दर्शन नहीं किये उनकी आँखें मोरपंख पर बनी हुई आँखों के समान ह। वे सिर, जो हरि-गुरु के पद-मूल में नहीं झुकते, कड़वी तूँबी के समान है। जिन्होंने अपने हृदय में ईश्वर भक्ति को धारण नहीं किया, वे प्राणी जीवित दशा में भी मृतक के समान हैं। जो जीभ राम के गुणों का गान नहीं करती वह मेंढक की जीभ के समान है। वह हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है जो हरि-चरित्र को सुन कर गद्‌गद् नहीं होता।[2]" भक्ति के बिना शरीर की व्यर्थता का ऐसा ही वर्णन भागवत[3] में मिलता है। संभवतः भक्तों में यह भाव परंपरा बना कर चला आया है। दादू भी भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ समझते हुए कहते हैं—"यदि जीवन भक्ति से सरसित नहीं है तो करोड़ वर्षों तक जीवित रहने अथवा अमर होने से भी क्या लाभ ?[4]

संस्कृत साहित्य के भक्ति-ग्रंथों में भक्ति के अनेक साधनों का वर्णन मिलता है जिनमें सत्संग को प्रमुख माना गया है। सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् कृष्ण

1 रा० च० मा०, पृ० ६१७ : तु० की०, गीता १८.६६ तथा ९.३०

2 रा० च० मा०, पृ० ११५

3 देखिये, भाग० २.३.२०-२४

4 दा० बा० I, पृ० ९९, पं० १२-१३

उद्धव से कहते हैं—"जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग मेरी प्रसन्नता का, मुझे वश में कर लेने का, जैसा सफल साधन है वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश करने में समर्थ नहीं हैं।"[1] सत्संग अमोघ[2] होता है। उसके अमित प्रभाव को सब भक्त एक मत से मानते चले आए हैं। तुलसीदास कहते हैं—"प्राणी भक्ति को, जो स्वतंत्र और सफल सुखों का आकर है, सत्संग बिना नहीं पाते।"[3] इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं—"सत्संग बिना भगवद्वार्ता नहीं होती, भगवद्वार्ता बिना मोह नहीं मिटता और मोह का नाश हुए बिना भगवान् के चरणों में दृढ़ प्रेम नहीं होता। बिना प्रेम के योग, जप, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों से भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती।"[4] "यदि स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को एक साथ एक पलड़े में और पलभर के सत्संग के सुख को दूसरे पलड़े में रखकर तोला जाय तो वे सत्संग के बराबर नहीं हो सकते।"[5] परन्तु क्षण भर का सत्संग भी दुर्लभ है।[6] "सत्संग की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है और उससे प्रयास बिना ही भव-बंधन (आवागमन) नष्ट हो जाता है।[7] सच तो यह है कि "सत्संग के समान दूसरा

भक्ति के साधन

---

1 भाग० ११.१२. १-२

2 देखिये, ना० भ० सू०, ३९

3 रा० च० मा०, पृ० १०२०

4 रा० च० मा०, पृ० १०३५

5 रा० च० मा०, पृ० ७५७ : तु० की०, भाग० १.१८.१३

6 रा० च० मा०, पृ० १११२ : तु० की०, ना० सू० ३९

7 रा० च० मा०, पृ० १००९

कोई लाभ नहीं है, परन्तु वह भगवान् की कृपा से ही होता है।"[1]

संत स्वयं अनन्य भक्त होता है, इसीलिए संत समागम से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।[2] भक्ति साहित्य में संत और भगवान् में अंतर नहीं माना गया। विनयपत्रिका[3] में 'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि' से और सूरसागर[4] में 'हरि हरिभक्त एक नहिं दोई' से भगवान् और सन्त (भक्त) की एकता प्रकट की गई है। "साधु प्रतषि देव[5] है" से हम कबीर के हृदय में साधुओं (संतों) के प्रति उसी भावना का दर्शन करते हैं। संत समागम और भगवत्-समागम दोनों अन्योन्याश्रय हैं। पहले से दूसरे की और दूसरे से पहले की प्राप्ति होती है।[6] "साधु-संतों की सेवा से हरि प्रसन्न होते हैं।"[7] भगवान् भक्तों के वश में हैं। भगवान् को पाने के लिए भक्तों (संतों) से प्रेम बढ़ाना चाहिए।[8] कबीर 'साधुसंगति को ही वैकुंठ' कहते हैं।[9]

गुरु को भी भक्ति का एक साधन माना गया है। यों तो गुरु संतों की श्रेणी में होने से भक्ति का सत्संग से अलग साधन नहीं बनता, परन्तु शिष्य के साथ गुरु का संबंध सामान्य संत

---

1 रा० च० मा०, पृ० १११५ तथा
वि० प० स्तु० १३६, पद १०, मंत्र ३ तु० कौ०, ना० म० सू०, ४०

2 देखिये, रं० बा०, पृ० ३७, पं० २३ : तु० कौ०, अ० रा०, अर० कां०, ३.३७ ३६ तथा रा० च० मा०, पृ० ६६८

भगति तात अनुपम सुख मूला,
मिलइ जौ संत होहिं अनुकूला॥

3 वि० प०, पद ५७, अंतिम पंक्ति

4 सू० सा०, पृ० ३२, पद १६६

5 क० ग्र०, पृ० ४४, पं० ५ तथा पृ० २७३.३०

6 देखिये, दा० बा०, T, पृ० ६४, पं० २२

7 व्यासजी : ब्र० मा० सा०, पृ० २११

8 देखिये, सू० सा०, पृ० २४, पद १२७

9 क० ग्र०, पृ० २६३.६८ : तु० कौ० : अ० रा० अ० कां०, ३.३६

की अपेक्षा प्रगाढ़तर होता है, अतः भक्ति ग्रन्थों में गुरु का निरूपण भक्ति के पृथक् साधन के रूप में किया गया है। हिन्दी-साहित्य में गुरु की महिमा को उसी प्रकार अक्षुण्ण रखा गया है जिस प्रकार वह संस्कृत साहित्य में मिलती है। भक्त का धर्म सीखने के लिए साधक को गुरु की बड़ी आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि गुरु अपने अनुभव के रहस्य का उद्घाटन करके शिष्य के साधन-पथ को परिशुद्ध बना देता है। भगवान् को प्रसन्न करनेवाले भाव और आचरण की क्रियात्मक शिक्षा शिष्य को गुरु से ही मिलती है।[1]

"सद्गुरु के मिलने से संशय और भ्रम समूह मिट जाता है।"[2] मनुष्य शरीर इस संसार सागर में एक पोत है, भगवान् का अनुग्रह अनुकूल पवन है और सद्गुरु उसका केवट है।[3] गुरु की आवश्यकता और कृपा का वर्णन उपनिषदों[4] ने भी किया है। शंकर श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य में गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं:—"जैसे तपे हुए मस्तकवाले पुरुष के लिए जलाशय के खोजने के सिवा और कोई उपाय नहीं है तथा भोजन के सिवा क्षुधातुर पुरुष की शान्ति का और कोई साधन नहीं है, उसी प्रकार गुरु-कृपा के बिना ब्रह्मविद्या का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।"[5] गीता[6] में गुरु-पूजा को शारीरिक तपों में परिगणित किया गया है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में गुरु को कुछ कम सम्मान नहीं दिया। उन्होंने गुरु को न केवल हरि-भक्ति का साधन कहा है वरन् गुरु की पूजा

1 देखिये, भाग० ११.३.२१-२२
2 रा० च० मा०, पृ० ७३५
3 रा० च० मा०, पृ० १०१६
4 देखिये, श्वे० उप०, ६.२३
5 देखिये, श्वे० उप०, ६.२३ 'शांकर भाष्य'
6 गीता, १७.१४

को हरि-भक्ति का ही एक प्रकार बतलाया है ।[1] गुरु-पूजा को हरि-पूजा कहकर तुलसीदास ने कोई नया मार्ग तैयार नहीं किया। अध्यात्म रामायण[2] के रचयिता की भी गुरु-पूजा के संबंध में यही भावना रही है । गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं—"जो गुरु के चरणों की धूलि को सिर पर धारण करते हैं, गुरु के प्रति श्रद्धावान् हैं, वे मानों सकल वैभव को आत्मसात् कर लेते हैं।"[3] मलूकदास गुरु के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"केवल गुरु के शब्दों में विश्वास ही संसार सागर से पार ले जा सकता है।"[4] नानक का कहना है कि "गुरु-सेवा से सब सन्तापों का नाश हो जाता है।"[5]

भारतीय संस्कृति के इतिहास से विदित होता है कि वैदिक काल से ही गुरु को अनुपम श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र माना गया है। गुरु को जितनी मान्यता वैष्णव सम्प्रदायों में दी गई है अवैष्णव संप्रदायों में भी संभवतः उससे कुछ कम नहीं दी गई। योग-सम्प्रदायों में तो गुरु को और भी अधिक महत्त्व दिया गया दीख पड़ता है, क्योंकि क्रियापरक होने से योगमार्ग की सफलता गुरु के मार्गदर्शन से सम्बन्धित रहती है । शिवसंहिता[6] में गुरु को पिता, माता और साक्षात् देव माना गया है तथा मन, वाणी और कर्म से गुरु की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कबीर-पंथ में गुरु को योगपरंपरा[7] के अनुकूल ही महत्त्व दिया गया

1 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८, दो० ४२
2 देखिये, अ० रा०, १०.२४
3 रा० च० मा०, पृ० ३५४
4 म० बा०, पृ० १८, पं० ७
5 प्रा० सं०, पृ० २२५, पं० ६
6 शि० सं०, ३.१३
7 देखिये, डाक्टर पी० डी० बड़थ्वाल : दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री : पृ० १६७ फुटनोट

हं। सम्भवत: कबीर-पंथ ने गुरु-महत्त्व को नाथ-पंथ से पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही ग्रहण किया है।

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ"

इस वाक्य से श्वेताश्वतर उपनिषद् (६. २३) ने प्राचीन काल में ही गुरु को देव-समता प्रदान कर दी थी। धीरे-धीरे भेद हट गया और गुरु और देव में अभेद हो गया।[1] अभेद की यही भावना हमें हिन्दी के भक्त कवियों के हृदय में मिलती है। 'गुरु गोविन्द तो एक है' कह कर कबीर[2] ने दोनों में अभेद ही स्वीकार किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय[3] में भी अभेद ही माना गया है। दोनों का अभेद स्वीकार करते हुए भी कबीर और तुलसीदास गुरु की दिशा में कुछ और प्रगति कर गये हैं। तुलसीदास कहते हैं "विधाता के कोप से गुरु रक्षा कर सकते हैं, परन्तु गुरु के विरोध से रक्षा करनेवाला जगत् में कोई नहीं है।"[4] तुलसीदास ने तो गुरु को केवल विधाता से ही बड़ा दिखलाया है, किन्तु कबीर गुरु को और बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कहते हैं "वे मनुष्य, जो गुरु को और कहते हैं, अन्धे हैं। याद रहे कि हरि के रूठने पर गुरु का आश्रय रहता है, परन्तु गुरु के रूठने पर कहीं आश्रय नहीं मिल सकता।"[5]

भक्ति के अनेक साधनों में से पूर्वोक्त दो ही प्रमुख हैं। इनके महत्त्व का अनुमान इसी से हो सकता है कि कुछ भक्ति-ग्रंथों में इन्हें (सत्संग और गुरु-सेवा को) भक्ति के प्रकारों में स्थान दिया गया है। भागवत में तो भगवान् ने उद्धव के प्रति भक्ति के अनेक साधनों का निरूपण इस प्रकार किया है:—"जो मेरी भक्ति प्राप्त

1 देखिये, शि० सं० ३.१३

2 क० ग्रं०, पृ० ३.२६

3 देखिये, अ० पदा० पृ० ८३, १४०, १७६, २०४, २२४

4 रा० च० मा, पृ० १६०

5 क० ग्रं०, पृ० २,४

करना चाहता हो वह मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामों का संकीर्तन करे, मेरी पूजा में अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रों के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा-पूजा में प्रेम रखे और सामने साष्टांग लेट कर प्रणाम करे। मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से बढ़ कर करे और समस्त प्राणियों में मुझे ही देखे। अपने एक-एक अंग की चेष्टा केवल मेरे ही लिए करे। वाणी से मेरे ही गुणों का गायन करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे। मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त सारी कामनाएँ छोड़ दे, मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे, और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाए वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धवजी ! जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है।"[1] अध्यात्म-रामायण में भक्ति के उक्त साधन राम ने लक्ष्मण को संक्षेप में इस प्रकार कहे हैं:—मेरे भक्त का संग करना, निरन्तर मेरी और मेरे भक्तों की सेवा करना, एकादशी आदि का व्रत करना, मेरे पर्व-दिनों को मनाना, मेरी कथा के सुनने, पढ़ने और उसकी व्याख्या करने में सदा प्रेम करना, मेरी पूजा में तत्पर रहना, मेरा नाम कीर्तन करना—इस प्रकार जो निरन्तर मुझ में लगे रहते हैं उनकी मुझ में अविचल भक्ति अवश्य हो जाती है।"[2] तुलसीदास ने सम्भवतः इन दोनों से भाव लेकर अपने ढंग से राम द्वारा संक्षेप में इस प्रकार कहलाया है:—"पहले तो ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति हो और वेदोक्त विधि से अपने-अपने धर्म में तत्परता हो। इसका फल फिर यह हो कि विषयों में वैराग्य हो जाए। जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब मेरे धर्म (भगवद्धर्म) में अनुराग उत्पन्न हो जाता है, श्रवणादिक नौ प्रकार की भक्ति दृढ़

1 भाग० ११. १९. २०-२४
2 अ० रा०, अर० कां०, ४.४८—५०.

हो जाती है और चित्त में मेरी लीलाओं पर अतिशय प्रीति हो जाती है। जो सन्तों के चरण-कमलों में अत्यन्त प्रेम करे, मन, कर्म और वचन से भजन करने का दृढ़ नियम रखे, मुझे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति और देवता आदि सब कुछ जाने और दृढ़ता से मेरी सेवा करे, मेरे गुण गाते हुए जिसका शरीर पुलकित हो जाए, वाणी गद्‌गद् हो जाए तथा अन्तर कामादि, मद और दम्भ से रहित हो जाए, हे तात ! मैं निरन्तर ऐसे मनुष्य के वश में रहता हूँ। जिनको मन, वचन और कर्म से मेरी ही गति है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते हैं, मैं उन लोगों के हृदय-कमल में सदा विश्राम करता हूँ।"[1]

भक्ति के साधनों के वर्णन में तुलसीदास ने जो विशेष बात कही है वह है ब्राह्मणों की सेवा। निस्सन्देह तुलसीदास ने ब्राह्मणों को वही सम्मान प्रदान किया है जो उन्हें सनातन-धर्म में परम्परा से मिलता चला आया है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी ब्राह्मणों की पूजा की शारीरिक तपस्याओं[2] में गणना की है। भागवत में नारद युधिष्ठिर को ब्राह्मणों का गौरव दिखलाते हुए कहते हैं:— "हे युधिष्ठिर ! मनुष्यों में भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र है, क्योंकि वह अपनी तपस्या, विद्या और सन्तोष आदि गुणों से भगवान् के वेद-रूप शरीर को ही धारण करता है। महाराज ! हमारी और आपकी तो बात ही क्या, ब्राह्मण तो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण तक के इष्टदेव हैं। उनके चरणों की धूलि से तीनों लोक पवित्र होते हैं।"[3]

निर्गुण कवियों के अतिरिक्त उन सब भक्तों ने, जो वैदिक धर्म में आस्था रखते है, ब्राह्मणों का महत्त्व स्वीकार किया है। कबीर आदि ने जहाँ अवतारवाद का खण्डन किया है वहाँ तीर्थादि और

---

1 रा० च० मा०, पृ० ६६८–६९
2 देखिये, गीता १७.१४
3 भागवत ७. १४. ४२

जाति-पाँति को भी पाखंड एवं ढकोसला मात्र कहा है। कबीर कहते हैं:—"सब एक ज्योति से उत्पन्न हुए हैं, फिर कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र ?"[1] नानक भी जाति-पाँति का खंडन करते हुए "ब्राह्मण" की परिभाषा करते हैं कि "ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को पहिचाने।"[2]

भक्ति के प्रकार

भागवत में भक्ति को 'नवलक्षणा'[3] और अध्यात्म-रामायण मे उसे 'नवविद्या'[4] कहा गया है। तुलसीदास आदि ने भक्ति को 'नवधा'[5] कहा है। हिन्दी भक्ति काव्य में भक्ति के साथ 'नवधा' शब्द भक्ति के नौ प्रकारों की ओर संकेत करता है। भागवत में 'नवलक्षणा' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अध्यात्म रामायण में 'नवविधा' का प्रयोग स्पष्टत: 'नवसाधना' के अर्थ में हुआ है। हम नहीं कह सकते कि 'साधन' शब्द 'विधा' (प्रकार) का कहाँ तक पर्यायी है, परन्तु अध्यात्म रामायण में दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कुछ भी सही, भक्ति ग्रंथों में भक्ति के कई साधनों और प्रकारों में सामान्यतया अभेद ही माना गया है यथा, सत्संग भक्ति का साधन भी है और प्रकार भी।

यदि साधन और प्रकार के विवाद को छोड़कर भागवत की 'नवलक्षणा' और अध्यात्म-रामायण की 'नवविधा' भक्ति के रूप की तुलनात्मक परीक्षा की जाए तो पूर्ण साम्य नहीं मिलता। जिस अन्तर से भक्ति के प्रकारों को उक्त ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया है, लगभग

---

1 क० ग्रं०, पृ० १०६.५७

2 प्रा० सं०, पृ० २३२, पं० १

3 देखिये भागवत : ७.५.२३ "भक्तिश्चेन्नवलक्षणा"

4 देखिये, अ० रा०, अर० कां०, १०.२७ : "एवं नवविधा भक्ति"

5 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६९८: "नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं" तथा, अ० छा० पदा० (परमानंददास) पृ० ६६, पद ३०:
"ताते नवधाभक्ति भली।"

उसी अन्तर से उन्हें हिन्दी भक्ति काव्य में रक्खा गया है। तुलसीदास अध्यात्म रामायण की ओर झुके रहे हैं और केशवदास, परमानंददास आदि भागवत का दृढ़ता से पक्ष ग्रहण किये रहे हैं।

भागवत[1] में भक्ति के नौ भेद ये माने गये हैः—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। विज्ञान[2] गीता में केशव ने इन्हीं नौ भेदों का वर्णन किया है। यहीं पर केशव ने भक्ति से कुछ साहित्य की ओर भी प्रगति दिखलाई है। उन्होंने भक्ति को नवरस मिश्रित प्रमाणित करने की चेष्टा की है तथा श्रवण को अद्भुत से, स्मरण को करुण से, दास्य को जुगुप्सा से, पाद-सेवन को भयानक से, वंदन को वीर से, अर्चन को शृंगार से, सख्य को हास्य से, कीर्तन को रौद्र से और आत्मनिवेदन को शान्त से संबंधित किया है। परमानंददास[3] ने भी भक्ति के ये ही नौ प्रकार स्वीकार किये हैं। उन्होंने अपने एक पद में उक्त नौ भेदों को उदाहरणों द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया हैः—"नवधा भक्ति योगादि सब से अच्छी है। जिस-जिसने इस (भक्ति) मार्ग को पकड़ा है वह अनन्य भाव से इस पर चलता रहा है। श्रवण से राजर्षि परीक्षित का उद्धार हो गया। कीर्तन से शुकदेवजी कृतकृत्य हो गये। स्मरण ने प्रल्हाद को निर्भय कर दिया। कमला ने पाद-सेवन से, पृथु ने अर्चन से, अक्रूर ने वंदन से, हनुमान ने हास्य से और अर्जुन ने सख्य से भगवान् को वश में कर लिया। बलि ने आत्म-समर्पण-द्वारा हरि को अपने पास ही बुला लिया।"

तुलसीदास ने भक्ति के नौ प्रकारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः—"पहली भक्ति संतों की संगति करना है। भगवत्कथा

---

1 भागवतः ७. ५. २३ः श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

2 देखिये, वि०, गी०, पृ० २३५–३६ः छंद १७२–१७४

3 देखिये, अ० पदा० (परमानंददास) पृ० ६६, पद ३०

के प्रसंगों में प्रीति रखना दूसरी भक्ति है। निरभिमान होकर गुरु के चरण कमलों की सेवा करना तीसरी और निष्कपट भाव से भगवद्गुणों का गान करना चौथी भक्ति है। दृढ़ विश्वास के साथ मेरे मंत्र का जप करना पाँचवी भक्ति है जिसका वर्णन वेद[1] में भी आया है। छठी भक्ति है दम (इन्द्रिय-निग्रह करना); शील, विरति और सदाचार में तत्परता, समदृष्टि होकर जगत् को भगवन्मय देखना और भगवान् से भी अधिक भक्तों (संतों) की पूजा करना सातवीं भक्ति है। यथालाभ सन्तुष्ट रहना एवं कभी परदोष-दर्शन न करना आठवीं भक्ति है और सबके साथ सरल एवं निश्छल भाव रखना तथा हर्ष-विषाद छोड़कर हृदय में भगवान् का पूरा भरोसा रखना नवीं भक्ति है[2]।"

भक्ति के उक्त प्रकारों के लिखने में गोस्वामीजी का झुकाव अध्यात्म रामायण[3] ही की ओर प्रतीत होता है क्योंकि मानस

---

1 संभवतः अनेक बार 'वेद' शब्द से तुलसीदासजी का अभिप्राय 'गीता' या 'भागवत' से भी रहा है।

2 रा० च० मा०, पृ० ६६८।

"प्रथम भक्ति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करहि कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरति बहुकर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा।
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा।
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखहि परदोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना।"

3 देखिये, अ० रा०, अर० कां०, १०. २२–२७

सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्।
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा।
पंचमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा।
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा।

में वर्णित नवधा भक्ति का पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ भेद अध्यात्म रामायण के पहले, दूसरे, पाँचवे, तीसरे और सातवें भेद से क्रमशः मिलता है। तुलसीदास ने छठे और सातवें भेद की रचना अध्यात्म रामायण के छठे और आठवें भेद के सम्मिलित आधार पर की है। आठवें भेद में मानसकार ने अपनी मौलिकता का समावेश किया है और नवें भेद में आत्म-निवेदन के लक्षण हैं, जिसका वर्णन भागवत ने भक्ति के नौ भेदों के अन्तर्गत किया है। इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति के नौ भेदों में अपने ढंग की एक आकर्षक क्रान्ति पैदा करदी है।

संभवतः संत कवियों के भक्ति-निरूपण में 'कथा-रति' के सिवा तुलसीदास की नवधा भक्ति के सब उपकरण मिल सकते हैं। यद्यपि नारद, अम्बरीष आदि भक्तों की कथाओं की ओर संकेत करके कबीर आदि ने उक्त अभाव की किसी अंश तक पूर्ति की है, पर सिद्धान्तरूप से वे कथादि में विश्वास नहीं रखते। वे प्रेम-मार्ग के पथिक हैं। उन्होंने केवल 'प्रेम भगति' का पल्ला पकड़ रक्खा है। इसी को वे 'नारदी भगति[1]' कहते हैं और इसी को 'भाव भगति'[2] आदि अन्य नामों से भी पुकारते हैं। भक्ति के भेदों की ओर उन लोगों की रुचि कहीं स्पष्टतः व्यक्त नहीं होती।

भक्ति में नाम की महिमा

नाम की महिमा सब धर्मों में स्वीकार की गई है। हिन्दू-भक्ति-सम्प्रदायों में तो इसकी और भी अधिक मान्यता है। नाम के हाथ में बड़ी शक्ति मानी जाती है। ऐसा कौनसा संकट है जो नाम से न कट सकता हो? इसमें भवोच्छेदन तक की अमोघ शक्ति बतलाई जाती है। इसकी शक्ति प्रमाणित करने के लिए भक्ति-साहित्य से 'अजामिल' जैसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

---

1 देखिये, क० ग्रं०, 'भगति नारदी मगन सरीरा,' पृ० १८३. २७८

2 देखिये, क० ग्रं०, पृ० २४५ "भाव भगति विश्वास बिन, कटै न संसै सूल"।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी नाम का गौरव बहुत प्राचीन दीख पड़ता है । मैं समझता हूँ सनातन धर्म के प्रभातकाल में ही प्रणव ने 'नाम' के नाम पर अपना झंडा फहरा दिया था । समय-समय पर जैसी-जैसी वायु की प्रेरणा हुई उसका रुख भी (विष्णु, कृष्ण, राम आदि नामों के रूप में) बदलता रहा । नाम का विकास-काल संभवत: 'विष्णु सहस्रनाम' के रचनाकाल के आसपास आता है और उत्तरकालीन वैष्णव साहित्य में इसका महत्त्व बढ़ता ही चला जाता है । हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर 'नाम'-संबंधी प्रभाव डालने में संस्कृत-साहित्य के साथ-साथ परम्परा का भी हाथ रहा है ।

हिन्दी के निर्गुण कवियों में 'नाम' को सगुण कवियों से कम गौरव नहीं मिला है, परन्तु दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं । चाहे जिस पवित्र समझे जाने वाले शब्द को तोते की तरह रट डालने को निर्गुण कवि 'नाम सुमिरन' नहीं मानते । वे ऐसे नामस्मरण को हृदय से घृणा करते प्रतीत होते हैं । उनके मतानुसार वास्तविक शक्ति भाव में है, नाम में नहीं । नाम तो भाव का बाह्य संकेत-मात्र है । उन पंडितों के सम्बन्ध में जो नाम में ही शक्ति बतलाते हैं, कबीर कहते हैं—पंडित मिथ्या बकते हैं । यदि राम कहने मात्र से जगत को मुक्ति मिल जाए तो खाँड कहने से मुख भी मीठा हो जाना चाहिए । यदि पावक के कहने से पाँव जल जाए अथवा जल कहने से तृष्णा शान्त होजाए और भोजन कहने से भूख का निवारण होजाए तो मुक्ति भी सब किसी को मिल जाए ।"[1]

---

1 पंडित बाद बदंते झूठा ।
राम कह्यां दुनिया गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा ।
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कह त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्यां भूष जे बाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ।

क० ग्रं०, पृ० १०१.४०

इससे स्पष्ट है कि नाम-स्मरण ओठों से करने की वस्तु नहीं है, हृदय से होना चाहिए । "पढ़ाने वाले के साथ-साथ तोता भी हरि-नाम बोलता है, किन्तु वह हरि के वैभव को नहीं जानता। और यदि वह कभी उड़कर बन में पहुँच जाए तो नाम का कभी स्मरण भी नहीं करेगा।"[1] कबीर कहते हैं कि "राम-नाम जपने वाले को भी काल घसीटे ले जारहा है।"[2] यदि केवल राम में शक्ति होती तो मृत्यु का इतना दुस्साहस नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध है कि निर्गुण-मत में नाम-स्मरण का मूल प्रेम माना गया है। प्रेम या भाव के बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। तुलसीदास को यह मान्य नहीं है। भागवत[3] के स्वर में वे कहते हैं कि "नाम सब प्रकार से सर्वत्र कल्याण करने वाला है, चाहे उसे कोई भाव से ले या कुभाव से, क्रोध में ले अथवा आलस्य में।"[4]

अस्तु, निर्गुण और सगुण कवियों का नाम-स्मरण के संबंध में कुछ भी सिद्धान्त हो नाम की महिमा का गान दोनों ने एक स्वर से किया है। नाम के संबंध से भक्त कवियों के दो पक्ष दीख पड़ते हैं। 'राम-भक्त' और 'कृष्ण-भक्त'। सगुण मत की रामाश्रयी शाखा के कवि तथा निर्गुण कवि 'रामनाम' के भक्त हैं और कृष्णाश्रयी शाखा के कवि 'कृष्णनाम' के भक्त हैं, किन्तु इन दोनों के बीच में कोई गहरी अन्तर-रेखा नहीं खींची जा सकती। 'रामनाम' के भक्तों ने स्वतन्त्रता से हरि, वासुदेव आदि नामों का प्रयोग किया

---

1 नर के साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूं उडि जाइ जंगल में बहुरि न सुरतै आनै।
क० ग्रं०, पृ० १०१.४०

2 रामहि राम जपंतडाँ, काल घसीटया जाइ।
क० ग्रं०, पृ० ३७.१८

3 भाग० १२.१२.४६ तथा ६.२.१४

4 रा० च० मा०, पृ० ३५, भाय कुभाय अनख आलस हूं।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूं ॥

है, उसी प्रकार सूरदास आदि कृष्णनाम के भक्तों ने रामनाम का प्रयोग खुलकर किया है। गिरिधर गोपाल का इष्ट रखने वाली मीराँ स्मरण के समय राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं समझती।

उस असीम परमात्मा के अनन्त नाम हो सकते हैं। विष्णु सहस्र-नाम इसका प्रमाण है, किन्तु कबीर राम[1] के पक्ष में हैं। वे लोगों को 'रा' का टोप और 'म' का कवच बनाने[2] का उपदेश देकर परमार्थ की रक्षा का साधन बतलाते हैं। कबीर के पीछे तुलसी साहिब और शिवदयाल को छोड़कर, लगभग सभी निर्गुणियों ने अभ्यास के लिए रामनाम को ही स्वीकार किया है[3]।

संस्कृत-भक्ति-साहित्य में नाम को शक्ति का आकर माना गया है। भागवत में बताया गया है कि 'भवजाल में भटकता हुआ जीव भगवान् के पावन नाम के स्मरण से तुरन्त ही मुक्त हो जाता है[4]।" विष्णुपुराण में "श्रीकृष्ण-स्मरण को तपस्यात्मक और कर्मात्मक सब प्रायश्चित्तों में सर्वश्रेष्ठ[5]" कहा गया है। अध्यात्म रामायण का कहना है कि "हरिनाम का स्मरण करके अज्ञजन भी हरि में लीन होजाते हैं[6]।" जिसकी वाणी एक क्षण भी "राम राम" ऐसा सुमधुर गान करती है वह ब्रह्मघाती अथवा मद्यपी भी क्यों न हो, समस्त पापों से छूट जाता है[7]।" "भगवान् के नाम के सुनने या जपने से चाण्डाल भी पुण्यात्मा ब्राह्मणों के समान पूज्य होजाते हैं[8]।" रामनाम के प्रभाव से ही वाल्मीकि ने

---

1 देखिये, क० ग्रं०, पृ० १८३ : "ररा ममां दाई आखिर तारा।
कहै कबीर तिहुं लोक पियारा।

2 'ररा करि टोप ममां करि बखतर' क०, ग्रं०, पृ० २०६.३५०

3 देखिये, पी० डी० बड़थ्वाल, नि० स्कू० आफ हिं० पो०, पृ० १२४

4 भा० १. १. १४

5 वि० पु० २.६.३७

6 अ० रा०, अर० कां०, ७.१६

7 अ० रा०, कि० कां०, १.८४

8 भा० ३.३.३७

ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त कर लिया[1] और अजामिल जैसे अनेक पापी राम-नाम लेकर पार होगये ।[2]

इसी प्रकार अन्य भक्ति-ग्रंथों में भी 'नाम' महिमा का निरूपण मिलता है। सबके आधार पर नाम की महिमा को हम निम्न बिन्दुओं में रख सकते हैं—(१) नाम कर्मों का नाश करता है, (२) पापियों को पावन करता है, (३) भवसागर से तारता है, (४) सब पुण्यों की सम्मिलित शक्ति से इसकी शक्ति बड़ी है, और (५) यह अशरण का शरण है ।

हिन्दी-भक्ति-काव्य इन्हीं ब्रिन्दुओं को लेकर चला है। कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "यदि नाम थोड़ा भी मुख पर आ जाए तो कोटिकर्मों का जाल एक क्षण भर में नष्ट हो जाता है। 'राम' के बिना कहीं विश्राम नहीं मिलता, चाहे कोई अनेक युगों तक पुण्य क्यों न करता रहे।"[3] अन्यत्र कबीर[4] "नाम को भवसागर से तरने के लिए 'पोत' कहते हैं।" रैदास को विश्वास है कि "नाम के सहारे अनेक अधम जीवों का उद्धार हो चुका है और कितने ही पतित नाम के संसर्ग से पावन हो गये हैं।"[5] नाम के मूल्य का अंकन करते हुए नानक कहते हैं—"जो

---

1 देखिये, अ० रा०, अयो० कां० ६.६४

2 देखिये, क० ग्रं०, पृ० १९६, पं० १७.१८

3 क० ग्रं०, पृ० ६ :

कोटि क्रम पेले पलक में, जे रंचक आवे नाउँ ।
अनेक जुग जे पुन्नि करे, नहीं राम बिन ठाउँ ।।

4 क० ग्रं०, पृ० २४१, पं० १७ :

सिरजनहार नाउँ धूं तेरा, भौ सागर तिरिवे कूं भेरा ।

5 रै० बा०, पृ० २१, पं० १४, १५

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे,
पतित पावन भये परसि सारं ।।

नाम को सदैव हृदय में रखते हैं उनका श्रम अवश्य सफल होगा तथा उनके मुख उज्ज्वल होकर चमकेंगे ।"[1]

सूरदास भगवान् के पावन[2] नाम में 'अशरण को शरण देने की एवं अधम का उद्धार करने की शक्ति बतलाते हैं ।[3] उन्हें ऐसे किसी प्राणी का ज्ञान नहीं जिसने एक बार भी नाम लिया हो किन्तु उसका उद्धार न हुआ हो ।[4] अतएव वे रामनाम को बड़ी शरण मानते हैं ।[5] गदाधर भट्ट "नाम के प्रताप को प्रबल पावक कहते हैं जिसमें महामहापापों तक के दाह की अमोघ शक्ति है ।"[6]

भागवत ने तार स्वर से घोषणा कर रक्खी है कि जब कलियुग में ध्यान, मखादि का नाम भी न होगा तब भगवन्नाम ही उनका काम सफलता से करता रहेगा ।[7] इसी को ध्यान में रखकर

---

1 नानक : जपजी,, अन्तिम दोहा, निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी
पोएट्री, पृ० १२३ पर उद्धृत

2 देखिये, सूरसागर : पृ० १५, पद ७२
"पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो ।"

3 देखिये, सूरसागर : पृ० १५, पद ६६
तुम कृपालु करुणानिधि केशव अधम उधारन नाउँ ।
o o o o o o o
अशरण शरण नाम तुमरो हौं कामी कुटिल सुभाउँ ।

4 देखिये, सूरसागर, पृ० ६, पद २७ :
द्विज पतित मतिहीन गनिका गुन लौलीन करत अघखीन पूतना प्रहारे ।
सकृत निज हरिनाम जिन लियो अवशि कर दूरि करि को को न तारे ।।

5 देखिये, सूरसागर, पृ० २३, पद १२० : 'बड़ी है रामनाम की ओट'

6 देखिये, ब्रज माधुरी सार, पृ० ११३ :
हेम हरन द्विज द्रोह मान मद, अरु पर गुरु दारागम ।
नाम प्रताप प्रबल पावक के, होत जु लाल सलभ सम ।।

7 देखिये, भाग० १२.३.५२ :
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखे: ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ।।

तुलसीदास कहते हैं—"जो गति कृतयुग में पूजा से, त्रेता में मख से और द्वापर में योग से मिलती है, वही कलियुग में नाम द्वारा मिल जाती है।"[1] "यही बात केशव कहते हैं कि "जब सब वेद पुराण नष्ट हो जाएँगे (वेदाचार को लोग भूल जाएँगे), जप, तप, तीर्थादि भी मिट जाएँगे (इनमें भी लोगों की श्रद्धा न रहेगी), गो-ब्राह्मण की कोई चिन्ता न करेगा, उस समय कलियुग में भी केवल नाम उद्धार करता रहेगा।"[2] गदाधर भट्ट 'हरिनाम' को ऐसा मंत्र कहते हैं जिसके बिना कलिकाल रूपी कराल व्याल की विष-ज्वाला से मुक्ति हो नहीं सकती।[3] इतना ही नहीं, राम-नाम महामंत्र है जिसका जप महेश नित्य करते रहते हैं और जिसका उपदेश काशी में मुक्ति का कारण बना रहता है।[4] नाम की महिमा गाते-गाते जब गोस्वामीजी को किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं हुआ तो वे यहाँ तक कह गए कि "नाम ब्रह्म और राम से भी बड़ा है।"[5]

---

1 रा० च० मा०, पृ० १०७७ :

> कृत युग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
> जो गति होइ सो कलि विषै, नाम ते पावहिं लोग॥

2 रा० चं०, २६.८ :

> जब सब वेद पुराण नसैहै, जप तप तीरथ हू मिटि जैहै।
> द्विज सुरभी नहिं कोउ विचारै, तब जग केवल नाम उधारै।

तु० की०, ना० पुराण, १.४१.११५

3 व्र० मा० सा०, पृ० ११३ :

> इहि कलिकाल कराल व्याल विष ज्वाल विषम भोये हम।
> बिनु इहि मंत्र गदाधर को क्यों, मिटि है मोह महातम॥

4 रा० च० मा०, पृ० २७ : महामंत्र जोइ जपत महेसू।
काशी मुकति हेतु उपदेसू॥
तु० की०, अ० रा०, यु० कां०, १५.६२

5 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३३ : 'ब्रह्म राम ते नामु बड़'
तु० की०, "राम त्वत्तोधिकं नाम"
विनयपत्रिका (स्तुति २२८) में वियोगी हरि द्वारा उद्धृत।

राम के पूछने पर वाल्मीकि ऋषि ने जो उनके निवास योग्य स्थान बताया है वह भक्त का हृदय है। ऋषि के भक्तिपूर्ण उत्तर में भक्त के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

भक्त के गुण

"जिनके श्रवण समुद्र के समान हैं और आपकी नाना कथाएँ उनमें सरिताओं के समान निरन्तर भरती रहती हैं, तो भी वे पूर्ण नहीं होते, जिन्होंने आपके दर्शनरूपी जलधर की अभिलाषा से अपने नेत्रों को चातक बना रक्खा है, जो अनेक नदियों, समुद्रों और भारी सरोवरों का निरादर कर के आपके रूप-बिन्दु से ही सुखी रहते हैं, जिनकी जीभ रूपी मराली आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर में से गुणगण-रूपी मुक्ताओं को चुनती रहती है, जिनकी नासिका आपके प्रसाद की शुचि एवं सुभग सुवास को नित्यप्रति आदरपूर्वक ग्रहण करती है, जो आपको भोग लगा कर भोजन करते हैं, आपको चढ़ा कर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो देवता, गुरु अथवा ब्राह्मण को देख कर विनय और प्रेम से प्रणाम करते हैं, जो अपने हाथों से सदैव भगवच्चरणों की पूजा करते रहते हैं, जिन्हें राम के सिवा और किसी का भरोसा नहीं है, जिनके चरण चल कर रामतीर्थों में जाते हैं, जो आपके मन्त्रराज (रामनाम) को नित्य जपते हैं और परिवारसहित आपकी पूजा करते हैं, जो नाना प्रकार के तर्पण, होमादि करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन करा के बहुतसा दान देते हैं, जो आपसे भी अधिक अपने गुरु को मान कर बड़े सम्मान से उनकी सेवा करते हैं, जो इन सब कर्मों का यही फल माँगते हैं कि राम के चरणों में रति हो, जिनके मन में न काम है न क्रोध, न मद है न मान, न मोह है न लोभ, न स्नेह है न द्रोह, न कपट है न दंभ और न क्षोभ है न माया, जो सब के प्रिय और हितकारी हैं, जिनको दुःख-सुख और निन्दा-स्तुति समान है, जो विचारपूर्वक सत्य और प्रिय वचन कहते हैं और सोते-जागते आपकी शरण में

रहते हैं, जिनका आपके सिवा दूसरा आश्रय नहीं है, जो दूसरे की सम्पत्ति को देख कर प्रसन्न होते हैं और दूसरे की विपत्ति को देख कर भारी दुःखी होते हैं और जिनको आप प्राणों के समान प्रिय हैं, जिनके आप ही स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु हैं, जो सब के अवगुणों को छोड़ कर गुणों को ग्रहण करते हैं, जो ब्राह्मणों और गौओं के लिए संकट भी सह लेते हैं, जो नीति में निपुण हैं और जगत् में जिनकी मर्यादा है, जो आपके गुणों और अपने दोषों को समझते हैं, जिन्हें सब प्रकार से आपमें विश्वास है, जो जाति-पाँति, धर्म, प्रशंसा, प्रियजन और सुखद सदन को भी त्याग कर आप ही में दत्तचित्त रहते हैं, जिनके लिए स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान है, जो सर्वत्र शर-चाप-धर आपही को देखते हैं, जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, जिनको आपसे सहज स्नेह है, उनके मन-मंदिर में आप निरन्तर निवास कीजिए।"[1] वे आपके सच्चे भक्त हैं। भक्तोचित गुणों की यह सूची तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण[2] के अनुकरण में तैयार की है। वाल्मीकि ऋषि ने वहाँ भी ऐसी ही लम्बी-चौड़ी 'भक्त-गुण-सूचनिका' भगवान् राम के सामने प्रस्तुत की है।

कबीर एक संक्षिप्त सूची में भक्तों के ऐसे ही गुणों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं: "राम का भक्त उसे समझना चाहिए जिसे आतुरता पीड़ित न करती हो, जो सत्य, संतोष और धैर्य से युक्त हो, जो काम, क्रोध, तृष्णादि से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक हरि-गुण-गान करता हो, जो पर-निंदा और असत्य से दूर रहता हो, जिसे काल का भय न रहा हो, जो भगवच्चरणों में चित्त रखता हो, जो समदृष्टि और शान्त हो और जिसे द्विविधा न सताती हो।"[3]

1 रा० च० मा, पृ० ४६५–४६८

2 देखिये, अ० रा०, अयो० कां०, ६.५४.६३

3 क० ग्रं०, पृ० २०६,३६३

गीता[1] में भगवान् कृष्ण ने भी भक्त के इन सब गुणों का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया है।

भक्त का एक मात्र परम गुण यह है कि वह भगवान् की सेवा के सिवा सालोक्यादि की भी इच्छा नहीं करता।[2] अतः भक्ति को ही सर्वस्व समझनेवाले तुलसीदास "निर्वाण पद का भी तिरस्कार कर देते हैं।"[3] वे केवल भगवान् की 'अनपावनी'[4] भक्ति माँगते हैं।

भक्तों की कोटियाँ

"जिस प्रकार एक ही जल भिन्न-भिन्न वर्णों से मिल कर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार एक ही भक्ति विभिन्न गुणाश्रय से भिन्न-भिन्न रूप की बन जाती है। तीन गुणों में से किसी एक की प्रधानता से भक्त सत्त्व-गुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी होता है। पहला मुक्ति चाहता है, दूसरा सांसारिक सुख चाहता है और धन, परिवार आदि से अनुराग रखता है, और तीसरा ईर्ष्यादि दोषों से मुक्त नहीं हो पाता। वह चाहता है कि किसी प्रकार उसका वैरी मर जाए।" भक्तों की उक्त कोटियाँ गुणाश्रित हैं। चौथी कोटि के भक्त कामना से ऊपर उठ जाते हैं, उन्हें कुछ चाह नहीं रहती। सूरदास ऐसी भक्ति को "सुधा भक्ति" कहते हैं। ऐसा भक्त मन, वाणी और कर्म से भगवान् की सेवा में ही लीन रहता है। सांसारिक इच्छाओं का तो कहना ही क्या वह मुक्ति की इच्छा का भी तिरस्कार कर देता है। ऐसा भक्त भगवान् का अति प्रिय होता है। वे उससे क्षण मात्र के लिए अलग नहीं रहते। भगवान् उसके लिए और वह भगवान् के लिए होता है। उसके समान भगवान् का और कोई नहीं होता। सकाम भक्त जो कुछ माँगते हैं भगवान् उन्हें वही देते हैं, किन्तु अनन्य भक्त निष्काम

---

1 देखिये, गीता, १२.१३.१६

2 देखिये, भाग० ९.४.६७ तथा अ० रा०, उत्तर कां०, ७.६६

3 'पद न चहौं निर्वाण', रा० च० मा०

4 'भक्ति देहु अनपावनी'

होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, अतः भगवान् भी सकुचाते रहते हैं। उनका न कोई मित्र होता है और न शत्रु। हरि की माया जो सब को सन्तप्त रखती है, उसे व्याप्त नहीं होती।"[1]

भक्तों की उपर्युक्त कोटियों का वर्णन भागवत[2] और रामायण[3] दोनों में मिलता है।

गीता[4] से प्रभावित होकर तुलसीदास[5] ने रामचरितमानस में भक्तों की कोटियाँ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की हैं। उन्होंने आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी के भेद से भक्तों के चार वर्ग तैयार किये हैं। आर्तजन दुःख से पीछा छुड़ाने के लिए भगवद्-भजन

---

1 देखिये, सूरसागर, पृ० ५२–५३, पद १३
भक्ति एक पुनि बहु विधि होई, ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होई।
भक्त सात्विकी चाहत मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुंब अनुरक्ति।
तमोगुणी चाहै या भाई। मम बैरी क्योंही मर जाई।
सुघा भक्त मोहीं को चाहे। मुक्तिहि को नाहीं अवगाहै।
मन, क्रम, वच मम सेवा करै। मनते भव आशा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोंहि प्यारो
इक छ्रन जाते रहों न न्यारो।
ताको मैं हित मम हित सोई।
जाको मैं सब और न कोई।
तु० को०, गीता ६.३०
त्रिविध भक्त मेरे है जोई। जो मागै तिहि देहुं मै सोई।
भक्त अनन्य कछू नहिं मांगे। ताते मोहि सकुच अति लागे।
ऐसो भक्त जानिहै जोई। जाके शत्रु मित्र नहिं होई।
हरिमाया सब जग संतापे। ताकी माया मोह न व्यापे।

2 देखिये, भाग० ३.२९.८–१३

3 देखिये, अ० रा०, उ० कां०, ७.६०–६७

4 देखिये, गीता : ७.१६ :
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोऽहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः।

5 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३० :
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ
साधक नाम जपहिं लउ लाए। होंहि सिद्ध अनिमादिक पाए।
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहि कुसंकट होंहि सुखारी।
रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहूं चतुर कहं नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा।

करते हैं । जिज्ञासु भगवद्ज्ञान की इच्छा से भगवान् की भक्ति करते हैं । अर्थार्थी अणिमादिक सिद्धियाँ पाने के लोभ से भक्ति में प्रवेश करते हैं । ज्ञानी निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति करते हैं ।

जिस प्रकार सत्संग भक्ति का साधक है उसी प्रकार असत्संग भक्ति का बाधक है । यह भक्ति का सब से अधिक भयानक शत्रु है । भक्ति-ग्रंथों ने इसे भक्ति-पथ का भीषण अन्तराय निश्चित किया है । नारद-भक्ति-सूत्र[1] में दुःसंग को सर्वथा त्याज्य कहा गया है । नारदपांचरात्र का कहना है कि "अभक्तों से बातचीत करने, उनके शरीर को छूने, उनके साथ सोने या खाने से भी पाप लगता है । हमें उनसे उसी प्रकार दूर भागना चाहिए जैसे हम कराल विषधर से भागते हैं ।[2]

भक्ति के अन्तराय

तुलसीदास को भी दुःसंगति से घृणा है वे कहते हैं: "विधाता दुष्ट की संगति न दे। इससे तो नरक का वास कहीं अच्छा है ।"[3] कबीर का कहना है कि "कुसंगति में पड़कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारों से मिलकर आकाश की बूंद अपनी निर्मलता खो बैठती है ।"[4]

भक्ति मार्ग में दूसरी बड़ी बाधा पड़ती है मन में कामादि के निवास से ।[5] "वे चित्त को सदैव उसी प्रकार भयभीत करते रहते हैं जैसे बिल्ली चूहे को ।"[6] कामादि की भूख कभी शान्त नहीं होती,

---

1 देखिये, ना० भ० सू० ४३ : "दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः'

2 देखिये, ना० पां० रा० २.२.६

3 रा० च० मा० :
"दुष्ट संग जनि देहु विधाता, इहि ते भला नरक का बासा ।"

4 क० ग्रं०, पृ० ४७ :
"निरमल बूंद अकास की, पडि गई भोमि विकार ।
मूल बिनंठा मानवा, बिन संगति भठछार ।"

5 देखिये, अ० रा०, यु० कां०, ८.४५ :
"कामक्रोधादयस्तत्र बहवः परिपन्थिनः"

6 अ० रा०, यु० कां०, ८.४६:
"भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारा मूषकं यथा ।"

ये मनुष्य के भीषण शत्रु हैं।[1] जब तक इनसे पीछा नहीं छूटता मनुष्य सत्पथ पर नहीं चल सकता। इसीलिए तुलसीदास कहते हैं:– "जब तक पंडित के मन में काम, क्रोध, मद, लोभ आदि बसे हुए हैं तब तक वह मूर्ख के समान है।"[2] कामादि के वश में पड़कर वह भी उसी अधम मार्ग पर चलता है जिस पर मूर्ख चलता है। फिर अन्तर कहाँ से आया? कबीर ने उस वर्ग में से तीन (काम, क्रोध, लोभ) को अति घृणित समझा है। वे कहते हैं :–"भगवान् उन्हीं को मिलता है जो काम, क्रोध, और तृष्णा का परित्याग कर देते हैं।"[3] काम, क्रोध और लोभ को घातक समझ कर ही नारद[4] ने स्त्री, धन, नास्तिक और वैरी का चरित्र सुनने के लिए मना किया है। ठीक है, काम, क्रोध, लोभ, मद आदि सभी प्रबल मोह की धाराएँ है, किन्तु उनमें अत्यन्त कठिन दुःख देने वाली मायारूपिणी स्त्री है।[5] स्त्री काम को जाग्रत करती है जो ज्ञान को ढक कर देहधारी को बेसुध कर देता है।[6] कामादि की प्रबल भयंकरता स्वयं सिद्ध है, पर दुःसंगति से ये शीघ्र भड़क उठते हैं।

भक्ति का अन्य शत्रु वाद, विवाद है। परमात्मा की प्राप्ति

---

1 **देखिये, गीता, ३.३७**

2 **तु० दोहावली :**

"काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान।
तब लगि पंडित मूरखो, तुलसी एक समान।"

3 **क० ग्रं०, पृ० १० :**

"काम, क्रोध, त्रिष्णा तजै, ताहि मिलै भगवान्।"

4 **देखिये, ना० भ० सू०, ६३**

"स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।"

5 **देखिये, रा० च० मा० पृ० ७०७ :**

काम, क्रोध, लोभादि, मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि।

6 **देखिये, गीता ३.४० :**

"एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।"

(अथवा उसका ज्ञान) तर्क से नहीं होता । इसी कारण कठोपनिषद्[1] में तर्क का निषेध किया गया है । नारद[2] भी अपने भक्तिसूत्र में 'वाद' को वर्जनीय कहते हैं। कबीर ने 'वाद' को भक्ति का विरोधी समझ कर ही उसे अपने आचरण से निकाल दिया है । वे कहते हैं:—"मैं वाद नहीं करता और न मैं वाद करना जानता ही हूँ, क्योंकि मैंने विद्या नहीं पढ़ी । मैं तो हरि के गुणों के गाने और सुनने में ही मस्त हूँ ।"[3] तुलसीदासजी भगवतत्त्व जानने वाले विरक्त पुरुषों का एक बड़ा लक्षण यह बतलाते हैं कि वे सब तर्कों को छोड़कर एक राम का ही भजन करते हैं ।[4]

भक्ति की उत्कृष्टता

भक्ति मानव जीवन का सर्वोत्तम मार्ग और सुनिश्चित लक्ष्य है। इसकी उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गई है । स्वयं फलस्वरूपा होने से इसकी अमोघता असंदिग्ध है । मार्गरूप में यह सबसे अधिक सरल है । अन्य मार्ग इतने लम्बे, टेढ़े और अरक्षित हैं कि कभी-कभी उन पर चलना असंभव होजाता है और कभी-कभी वे इतने धुँधले और अनिश्चित होते हैं कि साधक भ्रम में पड़ जाता है, किन्तु भक्ति-मार्ग ऐसा दिव्य पथ है कि उसमें पद-पद पर साधक के सामने दिव्य लक्ष्य रहता है । यह मार्ग प्रेम का सरस पथ है जो कष्ट, दु:ख, भय, विपत्ति आदि से रहित है । पथ प्रदर्शक यहाँ है, रक्षक यहाँ है और यहाँ है समक्ष ही भक्त का लक्ष्य । फिर उसे किस बात की चिन्ता ? भय कैसा ? भक्त को यदि कुछ करना है तो वह है

---

1 क० उप० : १.२.६ : "नैषा तर्केण मतिरापनेय:"

2 ना० भ० सू०, ७४ : "वादो नावलम्ब्य:"

3 क० ग्रं०, पृ० १३५.१४७ ; विद्या पढ़ूँ न वाद नहिं जानूँ ।
हरिगुन कथत-सुनत बौरानूँ ।

4 देखिये, रा० च० मा० :
अस विचारि जे तज्ञ विरागी ।
रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी ।

भगवान् के प्रति अपने अनन्य प्रेम की रक्षा। उमड़ते हुए प्रेम की लहरें हरि के चरण रसनिधि में मिलती रहें, बस इतना ही तो वह चाहता है और इसी में है उसका आनन्द। उन चरणों को छोड़कर प्रेम कहीं दूसरी जगह न जाए, बस यही तो अनन्यता है और "अनन्य भक्त को ही भगवान् के दर्शन होते हैं जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही हो सकते हैं।"[1] इससे भक्ति की उत्कृष्टता स्पष्ट है। नारद ने 'सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' से भक्ति की उत्कृष्टता की ही पुष्टि की है। भक्ति उत्कृष्ट इसलिए है कि इससे संसार-बंधन सहज ही में कट जाता है जब कि यज्ञ, दान, जप तथा इष्टापूर्त आदि कर्मों से वह टूटने के बजाय दृढ होता जाता है।[2] सुग्रीव की इस अनुरागोक्ति (अध्यात्म रामायण में) के तीखेपन को मानों हल्का करते हुए तुलसीदास विनयपत्रिका में कहते है "श्रुति ने व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि शुद्धि के अनेक साधन बतलाये हैं, पर राम के चरणों में अनुराग किये बिना मल का अतिनाश नहीं होता।"[3] भक्ति के बिना जप, तप, आदि को व्यर्थ बताते हुए कबीर कहते हैं : "यदि भगवान् के प्रति प्रेम-भाव न हुआ तो जप, तप, व्रत, संयम, तीर्थ स्नान-आदि से भी क्या लाभ ?"[4]

---

1 देखिये, गीता, ११.५३-५४

2 देखिये, अ० रा०, कि० कां०, १.८०-८१

3 देखिये, वि० प०, स्तुति ८२, पं० ७-८:

तुलसिदास व्रत दान ज्ञान तप, सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
राम चरन अनुराग नीर बिनु, मल अतिनास न पावै।

4 क० ग्रं०, पृ० १२६.१२१ :

क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जोपै जुगति न जानिये, भाव भगति भगवान्॥

तु० की०, अ० रा०, यु० कां०, ७.६७: "भक्तिहीनेन यत्किंचित्कृतं सर्वमसत्समम्।"

स्वयं फलरूप और परमार्थ (highest value) होने से भक्ति के सिवा और कुछ वांछनीय नहीं रहता। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य पुण्यों से प्राप्त हो सकता है उस सब को मेरा भक्त भक्ति द्वारा सहज ही (easily) प्राप्त कर लेता है, पर विशेषता यह है कि मेरा अनन्य भक्त तो कैवल्य मोक्ष तक को नहीं चाहता।"[1] भक्त का प्रेम भगवान् के चरणों के सिवा और कहीं नहीं जाता। भगवान् के सिवा उसे अन्य सब कुछ हेय एवं अवस्तु दीखता है। अतएव नंददास के भॅंवरगीत में गोपियाँ कहती हैं—"हे उद्धव ! ब्रह्मज्योति क्या है ? ज्ञान किसे कहते हो ? रखो यह सब कुछ अपने पास। हमें कोई कुटिल मार्ग स्वीकार नहीं करना है। हमारा तो प्रेम का सीधा मार्ग है। नहीं जानते—श्यामसुन्दर के नेत्र, वाणी, श्रुति, नासिका—उनके मोहनरूप ने हमें मुग्ध कर रक्खा है। मुरली की तो कहें क्या ? उसने प्रेम के जादू से हमें बेसुध बना दिया है।"[2] इसलिए 'हे उद्धव ! योग की शिक्षा उसे देना जो उसके उपयुक्त हो। हमारे पास (यदि कुछ कहना चाहते हो) तो प्रेमपूर्वक नंदनंदन का गुण गान करो। हमें और कुछ अच्छा नहीं लगता।"[3]

ज्ञान का लक्ष्य मुक्ति है जो साधक को आत्मज्ञान और आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति से मिलता है। जो भक्ति के बिना

---

1 देखिये, भाग० ११.२०.३२-३४

2 नंददास, पृ० १२५ (भॅंवरगीत): कौन ब्रह्म की जाति, ग्यान कासों कहौ उधो ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधो
नैन, बैन, श्रुति, नासिका, मोहनरूप दिखाइ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगोरी लाइ।।

3 नंददास, पृ० १२६ (भॅंवरगीत) :
ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधो जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास, नंद नंदन गुन गावौ।।

ब्रह्म का ध्यान करता है उसे निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान होता है।

भक्ति और ज्ञान

इससे साधक का निर्गुण ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है, किन्तु यह अवस्था बड़े प्रयास से प्राप्त होती है। फिर भी इसमें भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार नहीं होता, केवल उसकी निर्विशेष सत्ता का ज्ञान होता है। भक्ति में भगवान् का पूर्ण चित्र सामने आता है। भक्त निर्गुण को सगुण, अव्यक्त को व्यक्त रूप में देखकर भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार करता है।[1]

भक्ति को ज्ञान से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए तुलसीदास ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—

१. भक्त और ज्ञानी दोनों परमात्मा के पुत्र हैं, किन्तु भक्त शिशु के समान है और ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र के समान। जिस प्रकार माँ को अपने शिशु की अधिक चिंता होती है उसी प्रकार भगवान् को भक्त की अधिक चिन्ता होती है।[2]

२. ज्ञान का कहना कठिन है, समझना कठिन है और साधना भी कठिन है। यदि घुणाक्षरन्याय से वह कभी बन भी जाय तो फिर पीछे उसमें अनेक विघ्न होते हैं। ज्ञानमार्ग तलवार की धार है। उस पर से गिरते देर नहीं लगती। इसके निर्विघ्न तय हो जाने पर कैवल्य परमपद मिलता है, परन्तु वही मुक्ति भक्ति से, बिना इच्छा किए भी, हठपूर्वक आती है।[3]

३. माया भक्ति से अलग रहती है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान ये सब पुरुष जाति के हैं और माया स्त्री जाति की है, अतः

---

1 देखिये, सुशीलकुमार डे : वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट—पृ० २७०-७१

2 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ७०७ :

मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी, बालक सुत सम दास अमानी।

o o o o o o o

करउँ सदा तिन्हकै रखवारी, जिमि बालकहि राख महतारी ।।

3 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११०२-११०३

इन पर उसकी आसक्ति हो सकती है और ये भी उस पर मुग्ध हो जाते हैं, क्योंकि कोई विरक्त और धीरबुद्धि ही स्त्री को त्याग सकता है। जो कामी, विषयाधीन और राम के चरणों से विमुख हैं वे स्त्री के जाल में पड़ ही जाते हैं; किन्तु भक्ति स्त्री-जाति की है। स्त्री का स्त्री के रूप के प्रति मोह नहीं होता, इस कारण माया भक्ति की ओर आकृष्ट नहीं होती।[1]

४. भगवान् की दृष्टि में भक्ति का पद माया से ऊँचा है। माया तो निश्चित रूप से भगवान् की नर्तकी है, किन्तु भक्ति भगवान् की प्रिया है। भगवान् भक्ति के अनुकूल रहते हैं, इसलिए माया भक्ति से सदा डरती रहती है।[2]

५ भगवान् का आकर्षण भक्ति की ओर सबसे अधिक होता है। उत्तरकांड (रा० च० मा०) में भगवान् ने स्वयं कहा है—"भक्ति-हीन चाहे ब्रह्मा ही क्यों न हो वे भी मुझे साधारण जीवों के समान ही अप्रिय होंगे। भक्ति करने वाला चाहे नीच प्राणी भी हो, तो भी वह मुझे प्राणों से अधिक प्रिय होता है। सब जीवों में मुझे मनुष्य अधिक प्रिय लगते हैं। उनमें भी ब्राह्मण, ब्राह्मणों में

---

1 देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०६७ :

ग्यान, बिराग, जोग बिग्याना, ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अबल सहज जड़जाती।
पुरुष त्यागि सक नारिहिं, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो विषयबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥
o o o o o o
मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारिबर्ग जानहिं सब कोऊ॥

2 रा० च० मा०, पृ० १०६७ :

पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहिं सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥

भी वेद के जानने वाले, उनमें भी वेदज्ञ, उनमें भी विरक्त और विरक्तों में भी ज्ञानी और उनमें भी आत्मज्ञानी मुझे प्रिय हैं। विज्ञानियों (आत्मज्ञानियों) से भी अधिक प्रिय मुझे अपने वे दास हैं, जिन्हें मेरी ही गति है और कोई भी दूसरा भरोसा नहीं है।"[1]

६. एक पिता के बहुतसे पुत्र होते हैं, परन्तु उनके गुण, शील और आचरण अलग-अलग होते हैं। उनमें से कोई पंडित, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई योद्धा और कोई दानी होता है। कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मरत होता है, परन्तु पिता का स्नेह सब पर समान होता है। कोई मन, वचन और कर्म से पिता का भक्त होता है और स्वप्न में भी दूसरे धर्म को नहीं जानता। वह पुत्र पिता को प्राण के समान प्यारा होता है, चाहे वह सब प्रकार से मूर्ख हो। इसी प्रकार तीन लोक में देवता, मनुष्य और राक्षसों

---

1 रा० च० मा०, पृ०–१०६०.१०५६ :

भगतिहीन बिरंचि किन होई।
सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।
सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी।
तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी।।
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी।
ग्यानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी।।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।।

तु० की०, गीता, ६.२६

समेत जितने चराचर जीव हैं उनसे युक्त यह सम्पूर्ण जगत् मेरा उत्पन्न किया हुआ है। मुझे सब पर बराबर दया है। उन सब में जो मद और माया को छोड़ कर मन, वचन और काया से मुझे भजता है वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक, चर और अचर कोई भी हो, यदि भक्ति-भाव से कपट छोड़कर मेरा भजन करता है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। हे खग ! मैं तुझसे सत्य कहता हूँ, पवित्र सेवक मुझे प्राण के समान प्रिय है।[1]

७. माया की ग्रंथि खोलने के लिए प्रकाश चाहिए, वह ज्ञान और भक्ति दोनों से मिल सकता है। ज्ञान दीपक के समान है और भक्ति चिन्तामणि के समान। ज्ञान-दीपक विघ्न-पवन से बुझ सकता है, परन्तु भक्ति-मणि अबाध रूप से प्रकाश करती रहती है।[2]

---

1 रा० च० मा०, पृ० १०६०–६१ :

एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।
कोउ सर्वग्य धर्मरत कोई। सब पर प्रीति पितहि सम होई।
कोउ पितु भगत वचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा।
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भांति अयाना।
एहि विधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।
अखिल बिश्व यह मम उपजाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।
तिन्ह महँ जो परिहरि मदमाया। भजहि मोहि मन बच अरु काया।
पुरुष नपुंसक नारि नर, जीव चराचर कोइ।
भगति भाव भजि कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।

2 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११०२, ११०४ :

जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि विकल भइ विषय बतासा।
× × ×
राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती।
× × ×
अचल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई।

८. भक्ति के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। भक्ति-हीन ज्ञान केवट-रहित नौका के समान है।[1] जो भक्ति के बिना निर्वाण-पद चाहता है वह मनुष्य ज्ञानी होता हुआ भी पूछ और सींगरहित पशु के समान है।[2]

९. जो भक्ति को छोड़ कर केवल ज्ञान के लिए श्रम करते हैं वे मानों घर में कामधेनु को छोड़ कर आक के पेड़ से दूध लेने का प्रयास करते हैं।[3]

१० भक्ति की सहायता के बिना भव-सागर से संतरण नहीं हो सकता—यह अटल सिद्धान्त है।[4] इसके विरुद्ध, भक्ति स्वतंत्र है। उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, किन्तु ज्ञान-विज्ञान भक्ति पर आश्रित हैं।[5]

इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा सिद्ध किया है। भक्ति को भगवान् का पत्नीत्व देने में उन्होंने भागवत[6] का मत प्राप्त कर लिया है। साथ ही भागवत ने उन्हें भक्ति को ज्ञान, वैराग्यादि से ऊँचा कहने की आज्ञा दे दी है क्योंकि भागवत ने स्वयं

---

1 रा० च० मा०, पृ० ५६७ :
सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू।

2 रा० च० मा०, पृ० १०५२ :
रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिन पूछ बिषान।

3 रा० च० मा०, पृ० १०९६ :
जे असि भगति जानि परि हरहीं। केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी।

4 रा० च० मा०, पृ० ११११ :
बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल।

5 रा० च० मा०, पृ० ६६८ :
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिग्याना।

6 देखिये, भाग० माहात्म्य, २.३.६

कहा है कि "ज्ञान, वैराग्य आदि भक्ति के पुत्र[1] हैं और मुक्ति उसकी दासी[2] है।"

इस प्रकार सब सगुण[3] भक्तों ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा कहा है, परन्तु निर्गुण मत के सन्त, जिनका लक्ष्य मुक्ति है, ज्ञान-मार्ग के पथिक हैं, फिर भी वे ज्ञान-पथ पर भक्ति से अलग होकर नहीं चलना चाहते और कभी कभी तो वे भी भक्ति की वेदी पर ज्ञानादि के फल का भी बलिदान कर देते हैं।

भक्ति और योग

भक्ति साहित्य में योग को भक्ति से छोटा सिद्ध करने के लिए बड़े प्रबल तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। चित्तवृति-निरोध, जिसकी योग शिक्षा देता है, भक्ति से स्वतः ही हो जाता है। इसी प्रकार भक्ति में लीन होने पर विरक्ति भी अपने आप ही आजाती है।

मायाशक्ति के प्रभाव से जीव स्वरूप को भूलकर इस नाम-रूपात्मक जगत् के जाल में फँस जाता है। फलतः वह अपनी शान्ति को खो बैठता है। अष्टांगयोग की शिक्षा का लक्ष्य मन को अहंकार से मुक्त करके और निश्चल बना कर उसे असम्प्रज्ञात समाधि में प्रलीन कर देना है जहाँ जीव माया से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता की अनुभूति दिव्य चेतना (Divine Consciousness) के तात्त्विक परमाणु के रूप में (ब्रह्म के साथ ऐक्य में नहीं) करता है। इसलिए योगानुभूति ज्ञानानुभूति से उच्चतर होती है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति से आगे सविशेष परमात्मा की ओर भी होती है। अन्त में उसके द्वारा (यदि योग को भी भक्ति की सहायता प्राप्त है) भगवान् का दर्शन भी हो जाता है। अतः "जहाँ

---

1 देखिये, भाग० माहात्म्य, २.११

2 देखिये, भाग० माहात्म्य, २.२१

3 सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीतों में भी भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद दिया गया है। उद्धव पर गोपियों की विजय वस्तुतः 'निर्गुण' पर 'सगुण' मत की—ज्ञान पर भक्ति की—विजय है : देखिये, सूरसागर, पृ० ७१३, पद ३१: "आयौ हौ निर्गुण उपदेशन भयौ सगुण को चेरो।"

योग भक्ति का साधन होता है।"[1] वहाँ उसका फल परमात्मा की सगुणमूर्ति का दर्शन होता है। इसलिए कुछ लोग उसे शान्ता भक्ति मान कर भक्ति का ही भेद बतलाते हैं। शुद्धा भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ भक्त अपना भावात्मक सम्बन्ध (यथा, हास्य, सत्य, वात्सल्य अथवा माधुर्य) स्थापित कर लेता है, उससे कहीं ऊँची होती है।

"भक्ति के साथ योग की तुलना करना कंचन के साथ काँच की तुलना करना है।"[2] भला भक्ति के बिना योग से भगवान् को किसने प्राप्त किया है[3] जब कि योगी ज्योति का ध्यान करता है, भक्त के लोचन भगवान् की सौन्दर्य-सुधा का पान करते रहते हैं।[4] "भक्त अपने हृदय से भगवान् के चरण कमलों को नहीं भुलाता, उनसे उसे बड़ी शीतलता मिलती है। योग के गम्भीर अंधकूपों को देखकर उसे डर लगता है।"[5] योग में लुभाने वाली कोई बात ही नहीं, जब कि भक्ति में आँख, कान, नाक,—सबके लिए आकर्षण है।"[6] योग के अपारसिन्धु में योगी को भगवान् कहीं नहीं मिल

---

1 देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २६ :
योग युगति साधिकै जे तप योगिनि योग सिरायौ।
ताहू को फल सगुण मूरति प्रगटहि दरशन पायौ।

2 सूरसागर, पृ० ७१७, पद ४३ :
"योग प्रेम रस कथा कहो कंचन की कांचै।"

3 सूरसागर, पृ० ६६२, पद ८३ : "योग सौं कौनै हरि पाये।"

4 देखिये, नन्ददास भँवरगीत, पृ० १२७, पं० ८६ :
जोगी जोतिहि भजै भक्त निज रूपहि जानै।"

5 सूरसागर, पृ० ६७३, पद ५० :
"हरिपद कमल विसारत नाहिंन शीतल उर संचरे।
योग गंभीर अंधकूपन सों ताहि जु देखि डरे।

6 देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २८
"ए अलि कहा योग में नीको।
तजि रसरीति नंदनंदन को सिखवत निर्गुण फीको।
देखति सुनति नाहिं कछु श्रवणनि ज्योति ज्योति करि धावति
सुन्दर श्याम कृपालु दयानिधि कैसे हौ विसरावति।
सुनि रसाल मुरली की सुर ध्वनि सुर मुनि कौतुक भूले।।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेली गोपिन के मन फूले।

पाता, किन्तु यशोदा की भक्ति के कारण वे स्वयं ऊखल से बँधने के लिए आते हैं ।[1]

भक्त की आँखों से कर्मों को भी तुच्छ देखा गया है । नन्ददास गोपियों से कहलाते हैं कि "हे उद्धव ! प्रेम (भक्ति) में कर्म को मिलाना ठीक वैसा ही है जैसा अमृत को धूलि में मिलाना । सब कर्म तभी तक रहते हैं जब तक हृदय में हरि की स्थिति नहीं होती । कर्म जीव के विमुख होकर विश्व बन्धन का कारण बनते है ।"[2] यह बात नहीं कि केवल पापों से ही जीव बन्धन में पड़ता है, पुण्यों से भी उसी प्रकार जीव का बंधन बनता है । पाप और पुण्य दोनों ही बंधन हैं । पाप कर्म यदि लोहे की बेड़ी हैं तो पुण्य सोने की । पुण्य कर्मों में बँध कर हम स्वर्ग में पड़ते हैं और पापों में बँधकर नरक में । सच तो यह है कि प्रेम के बिना विषयवासना के रोग से पीछा नहीं छूट सकता ।[3] "पुण्य करने की दशा में भी पापों का नाश नहीं होता, वरन् रक्तबीज की तरह बढ़ते ही जाते हैं ।"[3]

---

1 सूरसागर, पृ० ६७१ पद ३५ :

"योगी योग अपार सिंधु में ढूंढ़े हू नहिं पावत ।
इहाँ हरि प्रगट प्रेम यशुमति के ऊखल आप बँधावत ।

1 देखिये, नंददास (भँवरगीत), पृ० १२६ :

"कर्म धर्म की बात, कर्म अधिकारी जानै ।
कर्म धूरि कौं आनि, प्रेम अमृत मैं सानै ।
तब ही लौं सब कर्म है, जब लौं हरि उर नाहिं ।
कर्मबंध सब विस्व के, जीव विमुख ह्वै जाहिं ।"

2 देखिये, नंददास (भंवरगीत), पृ० १२७ :

"कर्म पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी ।
पाइन बंधन दोउ, कोउ मानौ बहुतेरी ।
ऊँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग ।
प्रेम बिना सब पचि मरै, विषय वासना रोग ।"

3 देखिये, वि० प०, स्तुति १२८, पं० ३

"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं ।
रक्त बीज जिमि बाढ़त जाहीं ।"

भगवान् कृष्ण ने भागवत में कर्म के फेर में न पड़कर भक्ति ही का आश्रय लेने का उपदेश दिया है। वे उद्धव से कहते हैं:– "कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदि को पुरुषार्थ बतलाते हैं, परन्तु ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं वे उत्पत्ति और नाश वाले हैं। कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। इसलिए इन विभिन्न साधनों के फेर में न पड़ना चाहिए।"[1]

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भक्ति अकर्मण्यता को जन्म देती है। भक्ति के आलोचक भक्ति द्वारा अकर्मण्यता के प्रचार को सिद्ध करने के लिए प्रायः मलूकदास की इस पंक्ति— "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गये सबके दाता राम"—को प्रस्तुत किया करते हैं। वे इसका उलटा सीधा अर्थ लगाकर भक्ति-सिद्धान्तों के विषय में न केवल भ्रम फैलाते हैं, अपितु अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'काम करो, पर फल में आसक्ति रखकर नहीं, फल को भगवान् के लिए अर्पण करके और उस पर पूरा भरोसा रखकर।' इसमें फलासक्ति के परिणाम से बचने का उपदेश है। यहाँ 'प्रपत्ति' और 'निष्कामता' का संदेश है, अकर्मण्यता का प्रचार नहीं। तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि "जप, तप, नियम, योग, स्वधर्म, वेदविहित नाना प्रकार के शुभ कर्म, ज्ञान, दया, धर्म, तीर्थ-स्नान इत्यादि का एक सुन्दर फल यही है कि भगवान् के चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न हो।"[2] भक्ति रहित कर्मों को वे मल

---

1 भा० ११.१४.१०-११

2 देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३ :

जप तप नियम जोग निज धर्मा, स्रुतिसंभव नाना शुभ कर्मा।
ग्यान दया दम तीरथ-मज्जन, जहँ लगि धरम कहत स्रुति सज्जन।
आगम निगम पुराण अनेका, पढे सुनेकर फल प्रभु एका।
तव पद-पंकज प्रीति निरंतर, सब साधन कर यह फल सुन्दर।

से समता देते हैं। जिस प्रकार मल से मल नहीं धुलता उसी प्रकार भक्ति के बिना शुभ कर्म से भी अशुभ वासना का नाश नहीं होता।[1] अतएव जो कर्म किया जाए वह भक्ति के लिए किया जाए, किसी कामना से नहीं।

भक्त अकर्मण्य नहीं होता। वह कर्म करता है, किन्तु ऐसे जो भक्ति के साधक होते हैं, भक्ति का अंग होते हैं। यदि भक्ति का अर्थ अकर्मण्यता होता तो गोपियाँ श्याम के साथ २ न फिरतीं।[2] जगत की दृष्टि से कोई भक्त को उन्मत्त भले ही कहदे, पर उसे अकर्मण्य नहीं कहा जा सकता। जब संसार के लोग अपनी तथा-कथित कर्मण्यता से अपने लिए जाल बुनते हैं तब भक्त अपने प्रभु के साथ प्रेम-सरोवर में विहार करता है। जब दुनियादार कर्म के हथौड़े के नीचे सिसकता है, तब भक्त लीला-मानव की केलियों को देख-देखकर मुसकराता है। वह रोता भी है, किन्तु सांसारिक व्यक्ति की तरह पीड़ा से नहीं, लोचनों में आनंदाश्रु भरकर। इतने पर भी भक्त को अकर्मण्य कहना उसके साथ अत्याचार करना है।

हरि के अनन्य भक्त निष्काम-भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं। निष्काम भक्ति ही शुद्धा भक्ति होती है। वही भक्ति का सर्वोत्तम स्वरूप है। कामना के कारण मन 'एकाकार-वृत्ति' से खिचकर चंचल बनता है और कामना से ही भक्ति की शुद्धता बिगड़ती है।

भक्ति और कामना

भगवान् का सच्चा (अनन्य) भक्त उसके साथ एकीभाव (सायुज्य मोक्ष) की भी इच्छा नहीं करता।[3] "वह

---

1 देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३ :

छूटइ मल कि मलहिं के धोये, घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये।
प्रेमभगति जल बिनु रघुराई, अभि-अंतर-मल कबहुँ न जाई।

2 देखिये, सूरसागर, पृ० ३०६, पद ७२ :

आरजपंथ चले कहा सरि है श्यामहिं संग फिरौ री।

3 देखिये, भाग० ३.२५.३४

परमात्मा की सेवा में अभिरत होने के कारण उसके दिए हुए कैवल्य मोक्ष को भी नहीं चाहता। सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षता का ही दूसरा नाम है जो निरपेक्ष होता है उसी को परमात्मा की भक्ति प्राप्त होती है।"[1] यही कारण है कि तुलसीदास भक्ति में फल की इच्छा का तिरस्कार करते हैं। उन्हें चिन्ता नहीं कि उन्हें नरक में पड़ना पड़ता है या चारों फल रूपी शिशुओं को मृत्यु रूपी डाँकिनी खा जाती है, पर वे राम के स्नेह का कोई फल नहीं चाहते।[2] दादू प्रेमरस के प्याले पर इतने मुग्ध हो गये हैं कि उसके बदले में ऋद्धि-सिद्धि और मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं।"[3] कामना और भगवत्प्रेम का निर्वाह साथ-साथ नहीं हो सकता। जिनके मन में कामना बसी हुई है वे भगवान् के अनन्य भक्त हो ही नहीं सकते। अतः तुलसीदास कहते हैं—"हरि के सच्चे सेवक तो वे हैं जिन्होंने कामना का निग्रह कर लिया है और भगवान् में विश्वास जमा लिया है।"[4] कबीर कहते हैं—"जिसकी भक्ति सकाम है उसकी सेवा निष्फल[5] है।" केशव निष्काम भक्ति ही का पक्ष लेते हैं।[6] सूरदास को एकमात्र भक्ति ही प्रिय है। वे मुक्ति को दूर ही से प्रणाम करते

---

1 भाग० ११.२०.३४

2 देखिये, दोहावली,

परो नरक फल चारि सिसु, मीचु डाकिनी खाहु।
तुलसी राम सनेह कौ, जो फल सो जरिजाहु॥

3 देखिये, दा० बा० पृ० ६६, पं० १०-११ :

प्रेम पियाला रामरस, हमको भावै येहि।
रिधि-सिधि मागै मुकति फल चाहे तिनको देहु॥

4 वि० प०, स्तुति १६८, पं० ८ :

"प्रभु विश्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे।"

5 क० ग्रं०, पृ० १६ :

"जब लगि भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।"

6 देखिये, रा० चं०, २६.२४

हैं।[1] वे तो कृष्ण की मधुर मुसकान पर करोड़ों मुक्तियों को निछावर करने के लिए तैयार हैं।"[2] रैदास कहते हैं—जिसके पास 'आशा' (desire) रहती है उसके पास हरि नहीं रहते। जब आशा मिट जाती है हरि पास आ जाते हैं।[3]

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है।

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला हुआ है। भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं है।[4] जो अपना सर्वस्व प्रभु पर निछावर कर सतत उनका प्रेम-पूर्वक स्मरण करने में अपने चित्त को लगा देता है, उसी को भक्ति रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है। निषाद नीच जाति का था, शबरी गँवार स्त्री थी, ध्रुव अपढ़ बालक थे, विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, विदुर और सुदामा निर्धन थे, गोपियाँ क्रियाहीन थीं, परन्तु इन सबने भक्ति द्वारा भगवान् के हृदय पर अधिकार कर लिया था। जिसके हृदय में भक्ति है, वही सर्वगुण सम्पन्न है, वही कुलीन और ऊँचा है। भक्तिमार्ग पर चलने में सबका समान अधिकार है।[5] भक्त भगवान् की जाति का होता है, क्योंकि वह भगवान् का होता है।[6] भगवान् की अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र कर देती है, जो जन्म से ही चाण्डाल हैं।[7] इसलिए सूरदास कहते हैं कि "प्रभु की महाभक्ति से कुजाति भी सुजाति हो जाते हैं।"[8]

---

1 सूरसागर, पृ० ६६६, पद २४
2 देखिये, सूरसागर, पृ० ६७४, पद ५४
3 देखिये, रै० बा०, पृ० १३, पं० ७-८
4 देखिये, ना० भ० सू०, ७२
5 देखिये. शां० भ० सू०, ७८
6 देखिये, ना० भ० सू०, ७३
7 देखियें, भाग० ११. १४. २१
8 सू० सा०, पृ० ५, पद २१
"सूरदास प्रभु महाभक्ति ते जाति अजातिहि साजैं"
तु० की०-गीता ६. ३०, ३१

रामानुजाचार्य ने भी भक्तों के ऊपर से जाति-पाँति का प्रतिबंध उठा लिया है । उनका कहना है कि भक्ति जाति-भेद से ऊँची वस्तु है । उसमें सबका समान अधिकार है[1] । ठीक भी है, "अत्यन्ताभियुक्तानां नैव शास्त्रं न च क्रम:[2]"—जो अनन्य प्रेम में डूबे हुए हैं उनका वर्ण तो एक (प्रेम) ही है । मानस में राम ने शबरी को स्पष्ट कह दिया है कि वे केवल भक्ति का नाता (संबंध) मानते हैं[3] । जाति-पाँति से उनका संबंध नहीं है । हरि-प्रेमियों का उत्साह बढ़ाते हुए सूरदास कहते हैं: "हरि अपने भक्तों में ऊँच-नीच का भेद नहीं रखते । कोई भी उनका भजन कर सकता है । सुर, असुर—कोई भी हो, जो हरि भजन करता है वही उनका प्रिय होता है[4] ।" मानस में भगवान् की वाणी से सूरदास की इस उक्ति की पुष्टि हो जाती है । वे कहते हैं: "भक्ति वाला अत्यंत नीच प्राणी भी मुझे प्राण-समान प्रिय है[5] ।" जो भगवत्प्रिय है वह सर्व-प्रिय है । जिसमें भगवान् का प्रेम नहीं उसका उच्चकुल में जन्म होना किस काम का ? इसलिए तुलसीदास कहते हैं । "जो भगवद्भजन नहीं करता वह मनुष्य यदि ऊँचे कुल में भी हुआ तो

---

1 देखिये, श्रीभाष्य, १. ३. ३२, ३९ तथा ३. ४. ३६

2 देखिये, इंडियन फिलासफी (राधाकृष्णन) पृ० ७०६-'फुटनोट'

3 देखिये, रा० च० मा० पृ० ६९८:

"कह रघुपति सुनु भामिन बाता.
मानउँ एक भगति कर नाता ।"

4 सूरसागर, पृ० ७३, पं० १०-११

"ऊँच-नीच हरि गिनत न कोई.
यह जिय जानि भजौ सब कोई.
असुर होइ सुर भावै होई.
जो हरि भजै पियारो सोई.

5 रा० च० मा०, पृ० १०६०

"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी.
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।"

क्या लाभ ? उससे तो दिन-रात राम-भक्ति में लीन श्वपच कहीं अच्छा है[1] ।" व्यासजी श्वपच भक्त को करोड़ों कुलीनों और लाखों पंडितों से ऊँचा कहते हैं[2] । इसी प्रकार कबीर भी वैष्णव चाण्डाल को अभक्त ब्राह्मण से कहीं ऊँचा मानते हैं ।[3]

भक्ति में शरणागत भाव

इस चर्चा के प्रारंभ में 'भक्ति का विकास' शीर्षक के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि प्रपत्ति (शरणागत भाव) की ध्वनि उपनिषदों[4] से ही निकलने लगी थी । गीता के समय तक इसमें प्रौढ़ता आगई और इसमें अनन्य प्रेम की अविकलांगता सिद्ध होने लगी । गीता में इसकी शिक्षा इस प्रकार मिलने लगी: "सब धर्मो का परित्याग करके एक मेरी ही शरण ले । मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा । शोक मत कर[5] ।" पीछे भक्ति-क्षेत्र में प्रपत्ति-सिद्धान्त का और भी अधिक विकास हुआ और पुराणों में शरणागतों की अनेक कथाएँ बन गई और 'आत्मनिवेदन' नवधा भक्ति का उत्कृष्ट भेद बन गया । पुराणों की अनेक कथाओं में पिरोया हुआ वही प्रपत्ति-सिद्धान्त संस्कृत से हिन्दी में चला आया । हिन्दी के कुछ ग्रथों[6] में उसका निरूपण और अधिक परिमार्जित हो गया ।

---

1 वैराग्य संदीपनी (तुलसीदास), दो० ३८

2 देखिये, व्यासः व्र० मा० सा०, पृ० २१४:

व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पंडित लाख पचीस ।
स्वपच भक्त की पानहीं, तुले न तिनके सीस ।

3 देखिये, क० ग्रं०, पृ० ५३, पं० १३-१४

साषत बांमण मति मिलै, वैसनों मिलै चंडाल ।
अंकमाल दे भेटिये, मानौ मिले गोपाल ।

4 देखिये, श्वे० उप० २. ७ तथा ६. २३

5 गीताः १८. ६६:

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।

6 देखिये. तुलसीदास की विनयपत्रिका तथा सूरदास के विनय के पद ।

इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य के प्रकाशन ने हिन्दी-भक्ति-साहित्य में अधिक मान्यता प्राप्त करली। हम देखते हैं कि इष्ट का उत्कर्ष वर्णन करते समय भक्त उसकी शक्ति को देखता रहता है और उसका विश्वास हो जाता है कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेगा। 'वह विश्वंभर है, समानरूप से जगत् का भरण-पोषण करता है, फिर उसे 'अशन-वसन' की क्या चिन्ता है[1]? उसे भगवान् का व्रत[2] याद रहता है और वह अपने भजन, आचरण आदि को प्रभु के चरणों में समर्पित करके उनके भरोसे पर निर्द्वन्द्व हो जाता है[3]। इसी समय प्रभु के व्रत का उनकी क्रियाओं में साक्षात्कार होने से उनका गोप्तृत्व भी उसके सामने आजाता है और वह प्रेम के आवेश में पुकार उठता है। "हे हरि! आप संकट के साथी हैं—दूसरों की पीड़ा का हरण करने वाले हैं। गज की पुकार सुनते ही आप आतुर होकर दौड़े और उसे ग्राह से छुडाया, परीक्षित की गर्भ में रक्षा की, वस्त्र बढ़ाकर सभा में द्रौपदी की लज्जा रक्खी और जरासंध का वध करके राजाओं को उसके बंधन से मुक्त किया[4]।"

---

1 सूरसागर, पृ० ४५, पद २०
तु० की०-महाभारत (वि० प० में उद्धृत):
भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा:
योऽसौ विश्वंभरो देवी स भक्तं किमुपेक्षते।

2 सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मीति' च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रतं मम। अ० रा०, यु० कां०, ३. १२

3 देखिये, व्यास—व्र० मा० सा०, पृ० २१३:
काहू कै बल भजन कौ, काहू कै आचार।
व्यास भरोसे स्याम के, सोवत पांउँ पसार।

4 देखिये, सूरसागर, पृ० १२, पद ५३, पं० १-६
तुम हरि साँकरे के साथी।
सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुडायौ हाथी।
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी वेद उपनिषद साखी।
बसन बढ़ाय द्रुपद तनया के सभा माँझ पति राखी।
राज रवनि गाई ब्याकुल ह्वै दै दै सुत कौं धीरक।
मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक।

गोप्तृत्व के साथ-साथ भगवान् का औदार्य भी भक्त की आँखों में छाजाता है। "खोजने पर भी उसे कोई राम के समान उदार नहीं दीख पड़ता। भला, ऐसा कौन है जो बिना सेवा के ही दीन पर द्रवित होजाए? जिस गति को ज्ञानीमुनि योग, वैराग्य आदि यत्नों से भी नहीं पाते, उसी को वे गृद्ध और शवरी को देते समय हृदय में अति तुच्छ समझते हैं। अपने दस सिरों का समर्पण करके रावण ने जिस संपत्ति को शिव से प्राप्त किया था वही रघुनाथ ने विभीषण को बड़े संकोच से दी[1]।

भक्त को अब अपने ढंग का जीवन नहीं विताना है। उसे भगवान् के अस्तित्व में रहना है। वह उन्हें अपना समर्पण करने जारहा है। समर्पणीय वस्तु उनके अनुकूल होनी चाहिए, इसलिए उसे संतों की सी रहन-सहन का ढंग और उन्हीं का सा स्वभाव प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होती है[2]।

'आनुकूल्य की सम्पत्ति' के साथ साथ भक्त 'प्रातिकूल्य का वर्णन'

---

1 देखिये, वि० प०, स्तु० १६२, पं० १-६

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।

2 देखिये, वि० प०, स्तुति १७२:

"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपाते संत सुभाव गहौंगो।
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह-जनित, चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरिभक्ति लगोनो।

भी करता जाता है। जिस किसी कारण भगवत्प्राप्ति मे बाधा पड़ती है वह उस सब का परित्याग कर देता है। वह अपने परम स्नेही को भी, जिसके 'राम' प्रिय नहीं हैं करोड़ों वैरियों के समान छोड़ देता है।[1]

इस प्रकार भक्त भगवान् की ओर बढ़ता जाता है और गिड़-गिड़ाता जाता है। वह अपने दोषों के भंडार को भगवान् की कृपा दृष्टि के नीचे खोल देता है।[2] अन्यत्र दृष्टि न डाल कर वह भगवान् के चरणों में ही गिर पड़ता है और विनय करता जाता है: "हे नाथ ! मैं कहाँ जाऊँ ? किससे कहूँ ? कौन इस दीन की सुनेगा ? जिसके लिए कहीं ठौर-ठिकाना नहीं, जो सब प्रकार निःसहाय है, तीनों लोक में उसकी गति एक आप ही हैं।"[3] यही है भक्ति में शरणागत भाव जिसमे भक्त का अहंकार इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य में गल कर विलीन हो जाता है और वह भगवान् के अस्तित्व में रहने लगता है।

---

1 देखिये, वि० प०, स्तु० १७४ :
"जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँडिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।"
तु० की०, भाग० ७.६.१८ तथा प्रह्लाद चरित्र (भाग० सप्तम स्कंध, अध्याय ४, ५, ६)

2 देखिये, सूरसागर, पृ० १७, पद ८५, ९०

3 देखिये, वि० प०, स्तुति, १७९ :
"कहाँ जाउँ कासों कहौं, को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की।